भरतमुनि

कृत

नाट्यशास्त्र



प्रो. भोलानाथ शर्मा

नाट्यशास्त्रम्

श्रीभरतमुनिप्रणीतम्

सविवरणभाषानुवादसहितमाद्याध्यायत्रयात्मकम् ।

श्रीभरतमुनिकृत

नाट्यशास्त्र

प्रथम तीन अध्यायों का विवरण सहित हिन्दी अनुवाद

अनुवादक

भोलानाथ शर्मा, एम्० ए०

(संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी)

अध्यक्ष संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली

प्रकाशक

साहित्य निकेतन कानपुर

प्रथम मुद्रण १९५४ मूल्य २।।)

मुद्रक :
श्री प्रेमचन्द्र मेहरा,
न्यू ईरा प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

यह पुस्तक एम्० ए० के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत की गई है। एम्० ए० परीक्षा में नाट्यशास्त्र के प्रारम्भिक अध्याय प्रायः नाटक के प्रश्नपत्र में सम्मिलित रहते हैं; परन्तु इनका कोई भी सन्तोषप्रद और सुलभ संस्करण उपलब्ध नहीं है। आशा है कि इस संस्करण के विद्यार्थियों की कठिनाइयाँ हल हो जाएँगी।

भूमिका में उन सब विषयों का समावेश किया गया है जिनकी जानकारी नाट्यशास्त्र के विद्यार्थियों से अपेक्षित है। अनावश्यक विस्तार में न जाकर संक्षेप में बहुत कुछ सामग्री देने का प्रयत्न किया गया है।

अनुवाद में एक नवीन शैली का अनुसरण किया गया है। अभी तक नाट्यशास्त्र का कोई भी संतोषप्रद मूलसंस्करण उपलब्ध नहीं है। पाठ भेदों की भरमार सभी संस्करणों में है। अतएव इस अनुवाद में प्रथम तो अपने स्वीकृत पाठ का अर्थ दिया गया है तत्पश्चात् जितने भी पाठ भेद मिलते हैं उनको भी अर्थ सहित दे दिया गया है। इससे परीक्षार्थी को परीक्षक से कोई शिकायत करने का अवसर नहीं रह जाएगा। परीक्षक चाहे किसी संस्करण का उपयोग करे विद्यार्थी के पास सबका अर्थ प्रस्तुत है। सार्थक पाठ भेदों के उपरान्त जहाँ आवश्यक है वहाँ विवरण भी जोड़ दिया गया है इस प्रकार इस संस्करण को सब प्रकार से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। लेखक का विचार इसी शैली पर समग्र नाट्यशास्त्र का अनुवाद करने का है।

इस संस्करण को प्रस्तुत करने में अनेक लेखकों और उनकी कृतियों की सहायता अपेक्षित हुई है। वास्तव में यदि इसमें कुछ भलाई है तो उसका श्रेय इन्हीं महानुभावों को है पाठों और पाठ भेदों के लिये काशी, बम्बई, और बड़ौदा के संस्करणों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकलय से प्रौ० गोपीनाथ जी धावन एम्० ए०, पी एच० डी० की कृपा से अभिनव भारती का हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त हो

सका एतदर्थ उनको अनेकानेक धन्यवाद। भूमिका प्रस्तुत करने के लिये प्रौ० कीथ, पी० वी० काणे, डॉ० दे तथा दासगुप्त, डॉ मनमोहन घोष इत्यादि अनेकानेक महानुभावों की रचनाओं से सहायता ली गई है अतएव मैं उन सबका कृतज्ञ हूँ।

साहित्यनिकेतन के अध्यक्ष श्री श्यामनारायण कपूर तथा न्यू इरा प्रेस के अध्यक्ष भी इस पुस्तक को स्वच्छ और सुंदर रूप में प्रकाशित करने के कारण बधाई के पात्र है।

२२ फर्वरी १९५४

निवेदक
भोलानाथ शर्मा।

विषय-सूची

संकेतों का विवरण :—

का० = काशी का संस्करण

नि० = निर्णयसागर प्रेस का संस्करण

ब० = बड़ौदा का संस्करण

घो० = डा० मनमोहन घोष का अँगरेजी अनुवाद

भूमिका

१—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का महत्त्व

भरतमुनि का नाट्यवेद अथवा नाट्यशास्त्र अपने विषय की अद्वितीय पुस्तक है। संसार भर में इस विषय पर इतना परिपूर्ण और इतना पुराना अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। अरिस्तौतिली की 'पेरि पोइतिकीस्' (Poetics) नामक रचना नाट्यशास्त्र के विषय में यूरोप में आकर ग्रंथ के रूप में सम्मानित है। परन्तु उसमें नाटक के एक प्रकार—अर्थात् त्रागेदी (अँगरेजी ट्रैजेडी)—का ही सांगोपाङ्ग वर्णन किया गया है। यह छोटी सी रचना है। नाट्यशास्त्र के दशमांश से भी इसका आकार छोटा है। इसकी अपूर्णता के विषय में स्कॉट-जेम्स ने अपनी विख्यात पुस्तक दि मेकिङ्ग ऑफ लिटरेचर में ९७-९८ पृष्ठ पर बड़े पश्चाताप के साथ निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये है :—

Having in practice limited his subject as he has done, we might be tempted to wish that he had limited it even more, giving us simply an account of tragic drama, but giving us that in its completeness—confining himself, I mean to tragedy, but extending his treatment to include not only the drama as composed by the poet, but also as rendered by actors, chorus and musicians at Panathenaic Festival. As it is, having taken the whole field of poetry as his ostensible subject, he has examined Tragedy mainly from the liter-

ary man's point of view—rather as dramatic poetry than as poetic drama. What would we not have given even for the coldest Aristotelian analysis of the specific effect aimed at by the producer of a Greek play for a Greek audience? What if he had taken for his subject the art of the theatre as the Greeks knew it—not the inner action of the play alone, but all that went to the making of an event so stirring and memorable as the performance of a trilogy in the theatre at Athens—the tragic theme—the actors moving in the appropriate setting of the theatre—the scenery—the song—the music of instruments—the patterned rhythm of the dance—the colour—the co-ordination of speech, song, spectacle and recurrent movement !—अर्थात् अरिस्तौतिली ने केवल त्रागेदी (दुःखांत् नाटक) के काव्य रूप का विवेचन किया है न कि वास्तविक नाट्यरूप का। यदि वह नाटक के अभिनय का भी पूरा-पूरा विवरण दे देता तो स्कॉट-जेम्स उस पर सर्वस्व न्यौछावर कर देते। तथापि अरिस्तौतिली की यह अधूरी पुस्तक यूरोप के आलोचकों का कण्ठहार बनी हुई है। दूसरी ओर भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है जिसको हम नाट्य-संबंधी विश्वकोष कह सकते हैं। पर क्योंकि यह हतभाग्य भारतवर्ष की एक कृति है, जहाँ आत्मावमानना ही फलती-फूलती है अतएव इसका ।यह दुर्भाग्य है कि नाट्यशास्त्र का कोई विश्वास योग्य संस्करण भी उपलब्ध नहीं है। रङ्गमञ्च, अभिनय, रस, छन्द, अलङ्कार, वेशभूषा, सङ्गीत, नृत्य, भाषा, ऐसा कौन सा नाटक संबंधी विषय है जो इस ग्रंथ में नहीं मिलता।

भारतवर्ष में नाट्यवेद अथवा नाट्यशास्त्र साहित्य-शास्त्र का प्रथम

उपलब्ध ग्रन्थ है अतएव इसका नाम 'नाट्यवेद' पूर्णतया सार्थक है। नाट्य-संबंधी ज्ञान के अतिरिक्त इससे प्राचीन भारत की सामाजिक अवस्था का भी बहुत अच्छा परिचय प्राप्त होता है। कला और संस्कृति के क्षेत्र में हम लोग कितने समुन्नत थे इसका पता नाट्यशास्त्र से भली भाँति चल सकता है। ६ सहस्र श्लोकों के इस विशाल ग्रंथ में प्राचीन भारत का एक ऐसा चित्र हमको उपलब्ध होता है जैसा अन्यत्र नहीं मिल सकता। इसके पश्चात् भारतवर्ष में इस विषय पर छोटे-मोटे अनेकों ग्रंथ लिखे गये पर वे सब इसकी धुँधली प्रतिच्छाया मात्र हैं। अन्य देशों के इसी कोटि के ग्रंथों में कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो इसके साथ प्रतिस्पर्द्धा कर सके। अरिस्तौतिली के ग्रंथ की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उसके पश्चात् यूरोप में इस विषय की दूसरी प्रख्यात रचना लेसिङ्ग की "हाम्बुर्गिश ड्रामाटर्गी" है। पर वह भी नाट्यशास्त्र की तुलना में नहीं रक्खी जा सकती। अतएव डॉ० राघवन् ने "साहित्य के विश्वकोश" में (ऐनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर प्र० खंड पृ० ४६८) लिखा है कि The Natya Sastra, in 36 chapters, is more complete than the work of Aristotle, and provides a full view of Sanskrit dramatic poetry. अर्थात् अपने ३६ अध्यायों में यह नाट्यशास्त्र अरिस्तौतिली की रचना की अपेक्षा अधिक पूर्ण है और संस्कृत नाट्य-साहित्य के संबन्ध में पूर्ण ज्ञान (=दृष्टि) प्रदान करता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इसके समान अन्य रचना न कभी हुई है और न होगी। भावी 'अभिनवभरत' को वृद्ध भरत के स्कंधारूढ़ होने पर ही कुछ अधिक उच्चता प्राप्त हो सकती है। पता नहीं की यदि स्कॉट जेम्स को नाट्यशास्त्र का पता होता तो वह क्या कहते। पर भरत की समग्र रचना का अभी तक अँगरेजी अथवा अन्य किसी पाश्चात्य भाषा में अनुवाद नहीं हो सका है। हाँ, सन् १६२० में दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बैंगाल की ओर से इसके $\frac{2}{3}$ भाग का

अँगरेजी अनुवाद अवश्य प्रकाशित हुआ है। इससे आशा होती है कि भविष्य में अँगरेजी जाननेवाले आलोचक इसके विषय में अपेक्षाकृत अधिक चर्चा करेंगे। तथापि सुप्रसिद्ध अँगरेज नाट्यशास्त्री प्रो० एलार्डाइस् निकल् को इसके विषय में कुछ जानकारी अवश्य है। अतएव उन्होंने थियोरी आफ ड्रामा नामक ग्रंथ में रस सिद्धान्त का अत्यन्त प्रशंसात्मक उल्लेख किया है और अपने विश्व-नाटक (वर्ल्ड ड्रामा) में भी ६२६ पृष्ठ पर लिखा है कि "already towards the beginning of our era a scholar, Bharata, had in front of him a sufficient body of material to be able Aristotle-like, to compose his exhaustive Science of Dramaturgy" अर्थात् ईसवी सन् के आरम्भ की ओर भरत-मुनि नामक विद्वान् के समक्ष इतनी पर्याप्त सामग्री उपस्थित थी कि जिसके आधार पर अरिस्तातिली के समान अपना सर्वांग पूर्ण नाट्यशास्त्र रच सके। इसी प्रकार श्री शिपले के द्वारा संपादित "संसार के साहित्यकोप" (डिक्शनरी ऑफ •वर्ल्डस लिटरेचर) तथा "साहित्य के विश्वकोप" (ऐनसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर) में नाट्यशास्त्र की पर्याप्त चर्चा हुई है। फिर भी जितना सम्मान इस ग्रंथरत्न का होना चाहिए उतना अभी नहीं हो सका है। इसका एक मात्र कारण हम भारतीयों की आत्मावमानना की भावना है—तथा जो स्वातन्त्र्य इस भावना को नहीं मिटा सका उसका क्या विश्वास ?

२—सम्पादन और संस्करण

यद्यपि नाट्यशास्त्र की रचना के पश्चात् इस विषय पर जो भी अन्य ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखे गये तथा जिनका पठनपाठन प्रचलित रहा वे सब भरत मुनि के ऋणी थे, तथापि स्वयं भरत का नाट्यशास्त्र बहुत समय तक लुप्तप्राय हो गया था। अतएव जब पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत नाटकों से परिचय प्राप्त किया तो उनको भरत नाम तो विदित हो

गया पर नाट्यशास्त्र के दर्शन न हो सके। अब से सवा सौ वर्ष पूर्व जब विल्सन महोदय ने कुछ संस्कृत नाटकों का अनुवाद प्रकाशित किया तो उन्होंने इस तथ्य को बड़े दुःख के साथ प्रकट किया कि भरत मुनि का नाट्यशास्त्र तो सर्वदा के लिए लुप्त हो गया है। पर इसके चालीस वर्ष पश्चात् १८६५ ई० के लगभग फ्रेडरिक हॉल को नाट्यशात्र की एक हस्त लिखित प्रति प्राप्त हुई और उन्होंने अपने दशरूपक के संस्करण में नाट्य शास्त्र के तत्संबंधी अध्यायों को एक परिशिष्ट के रूप में—जैसे कि वे निर्णयसागरमुद्रणालय के नये संस्करण में भी सम्मिलित कर लिये गये हैं—प्रकाशित किया। हॉल महोदय की अभिलाषा समग्र नाट्यशास्त्र को प्रकाशित करने की थी पर उनको केवल एक ही हस्तलिखित पुस्तक उपलब्ध थी और वह भी बहुत सी अशुद्धियों से युक्त थी, अतएव वे उसका सम्पादन नहीं कर सके। तथापि हॉल ने नाट्यशास्त्र की हस्तलिखित प्रतियों के लुप्त हो जाने की निराशापूर्ण धारणा का निराकरण कर दिया। परिणामतः विद्वानों ने भारतवर्ष और अन्य देशों में हस्तलिखित पुस्तकों के भण्डारों में नाट्यशात्र की खोज आरम्भ कर दी। जो अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुईं उनके आधार पर संपादन और विषय विवेचन का कार्य होने लगा। आरम्भ में विदेशी विद्वानों ने ही इस क्षेत्र में पहल की। हेमान नामक एक जर्मन विद्वान् ने १८७४ में गौटिंगन नगर की राजकीय वैज्ञानिक परिषद् की विवरण पुस्तक में नाट्यशास्त्र का एक विस्तृत परिचय प्रकाशित किया। संपादन कार्य का श्रीगणेश फ्रेंच विद्वानों ने किया। रेग्नौ नामक फ्रेंच मनीषी ने १८८० में १७वें, तथा १८८४ में पहले १५वें और १६वें तथा तत्पश्चात् ६ठे और ७वें अध्यायों को प्रकाशित किया। इन्हीं के शिष्य ग्रौसे नामक विद्वान् ने १८८८ में संगीत संबंधी २८वें अध्याय को सम्पादित करके प्रकाशित किया। इसके पश्चात् भी ग्रौसे नाट्यशास्त्र के सम्पादन कार्य में संलग्न रहे और उन्होंने १८९८ में उसके प्रथम १४ अध्यायों का एक अत्यन्त सुसम्पादित संस्करण निकाला। सुविख्यात फ्रांसीसी संस्कृतज्ञ प्रौ० सिल्वाँ लेवी ने अपने भार-

तीय नाटक संबंधी ग्रन्थ में (१८९० में) नाटयशास्त्र के कतिपय अध्यायों का विवेचन किया पर ऐसा नहीं जैसी की उन सरीखे विद्वान् से आशा की जा सकती थी।

फ्रांस में ग्रौसे के संस्करण के प्रकाशित होने के पूर्व १८९४ में नाटयशास्त्र का एक संस्करण सुप्रसिद्ध निर्णयसागर मुद्रणालय से काव्य-माला में प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक स्वर्गीय पं० शिवदत्त और काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब थे। हमारे देश मे इसी संस्करण का प्रचलन अधिक हुआ। इसके नवीनतम मुद्रण में ग्रौसे के संस्करण का भी उपयोग किया गया है। इतना सब कुछ हो चुकने पर भी इस ग्रन्थ की विस्तीर्ण विवेचना और अनुवाद इत्यादि नहीं हो सके। इसका कारण यह था कि विद्वान् सम्पादकों के परिश्रम के पश्चात् भी इस ग्रन्थ का पाठ और विषय अनगिनती गुत्थियों से भरा हुआ था और उनको सुलझाने में सहायक हो सके ऐसी किसी पुरानी टीका का भी पता नहीं था। पर वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में ही श्री सुशीलकुमार दे ने अभिनव भारती नामक एक विस्तृत टीका को खोज निकाला जिसकी रचना काश्मीर के प्रकाण्ड दार्शनिक श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने की थी। श्री रामकृष्ण कवि नामक एक मद्रासी विद्वान् ने इस टीका के सहित नाटयशास्त्र के सम्पादन का कार्य हाथ में लिया और इसके दो भागों को १९२६ और १९३४ में बड़ौदा की गायकवाड़ ओरिएटल सिरीज में प्रकाशित किया। इस विशालकाय संस्करण के दो भाग अभी भविष्य के गर्भ में हैं। यद्यपि अभिनव भारती से नाटयशास्त्र को समझने का कार्य सरल हो जाना चाहिये था और एक सीमा तक कुछ ऐसा हुआ, तथापि अभिनव भारती का पाठ भी इतना भ्रष्ट है कि यह टीका भी स्वयं ही एक समस्या बन गई है। कवि महोदय के एक विद्वान् मित्र ने इस टीका को देखकर कहा कि यदि श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य स्वयं भी स्वर्ग से उतर आएँ तो वे भी इस टीका के मूल पाठ का उद्धार नहीं कर सकेंगे।

अभिनव भारती सहित नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग के प्रकाशन के उपरान्त १९२७ ई० में मूलमात्र नाट्यशास्त्र का एक संस्करण (श्री पं० बलदेव उपाध्याय एवं बटुकनाथ शर्मा द्वारा सम्पादित) काशी संस्कृत सिरीज में प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में यह आशा प्रकट की गई थी कि शीघ्र ही म० म० श्री पं० गोपीनाथ कविराज महोदय नाट्यशास्त्र का एक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे। कविराज जी की लेखनी से जो कुछ निकलता है वह अनुपम ही होता है। पर खेद का विषय है कि नाट्यशास्त्र को उनके द्वारा विवेचित होने का सौभाग्य आज तक प्राप्त नहीं हो सका।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है नाट्यशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली अन्तिम महत्त्वपूर्ण रचना डॉ० मनमोहन घोष का नाट्यशास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद है जो १९५० में बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित किया गया है। डॉ० घोष नाट्यशास्त्र के विषय में दीर्घकाल से शोध खोज कार्य करते रहे हैं। उनका अनुवाद इस दिशा मे प्रथम बड़ा प्रयास है। उन्होंने नाट्यशास्त्रके मूलसंस्कृत संस्करण को भी प्रकाशित करने का वचन दिया है।

नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विवरण और आलोचना पर्याप्त नहीं तो बहुत कुछ हो चुकी है। इस दिशा में रैग्नौ, ग्रौसे, लैवी, दे, कीथ, काणे एवं राघवन इत्यादि की रचनाएँ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। हिन्दी में नाट्य-शास्त्र के विषय में भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास एवं प्रसाद इत्यादि की विवेचना द्रष्टव्य है। पर वर्त्तमान समय में पं० सीताराम चतुर्वेदी जी इस पाँचवें वेद के क्षेत्र में अपने विश्वसनीय अध्यवसाय के साथ जुटे हुए हैं। अभिनव भरत ने अपने नवीन नाट्य-शास्त्र की समाप्ति के पश्चात् 'वृद्ध' भारत का हिन्दी अनुवाद आरम्भ करने का विचार प्रकट किया है। हम तो इतना ही निवेदन कर सकते हैं कि भारत की राष्ट्रभाषा में भरत के नाट्यशास्त्र का अनुवाद शीघ्राति-शीघ्र हो जाना चाहिए।

३—नाट्यशास्त्र का विषय

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय का ११६वाँ श्लोक निम्न-लिखित है :—

"न तच्छ्रुतं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ।।१।११६।।

अर्थात्—अध्ययन (श्रवण) द्वारा प्राप्त किया कोई ऐसा ज्ञान नहीं है, शिल्प नहीं है, विद्या नहीं है, कला नहीं है, योग नहीं है, कर्म नहीं है जो इस नाट्य (नाटक) में न देखा जाता हो"। इसके पश्चात् भरत-मुनि ने यहाँ तक कह दिया है कि :—

"सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति

अर्थात्—यह नाट्य सातों द्वीपों का अनुकरण होगा।" बस जो बात नाट्य के विषय में कही गयी है वही नाट्यशास्त्र के विषय में भी सत्य है। नाटक, साहित्य, भाषा, छन्द, वास्तु, मनोविज्ञान, संगीत, नृत्य इत्यादि के विषय में इस ग्रन्थ में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन हुआ है।

प्राचीन काल से ऐसी प्रसिद्धि चली आई है कि नाट्यशास्त्र में ३६ अध्याय हैं और इसकी श्लोक संख्या ६००० है। पर किसी किसी संस्करण में अध्यायों की संख्या ३७ भी मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्याय के श्लोकों की संख्या भी सब संस्करणों में समान नहीं है। यद्यपि अधिकांश ग्रन्थ श्लोकबद्ध है तथापि कतिपय अध्यायों में कुछ गद्यांश भी उपलब्ध होता है। काशी के संस्करण में ६, ७, ८, १४, १६, २८, ३२ और ३४वें अध्यायों में गद्य-पद्य का मिश्रण पाया जाता है।

प्रथम अध्याय में नाटक की उत्पत्ति का वर्णन है। इन्द्रध्वज के उत्सव के अङ्ग के रूप में नाटक का अभिनय आरम्भ होता है। ब्रह्मा जी ने चारों वेदों से पाठ्य, गीत, अभिनय और रस को लेकर ऐसे नाटक की सृष्टि की जिसको देवताओं से लेकर शूद्र तक सभी देख और पढ़ सकते

थे। भरतमुनि के पुत्रों और अप्सराओं ने इसका अभिनय किया। पर क्योंकि प्रथम नाटक का विषय था देवताओं की दानवों पर विजय। अतः देवताओं के शत्रुओं ने अभिनय में विघ्नों को उत्पन्न किया। विघ्नविनाश के लिए जर्जर की उत्पत्ति हुई और नाटक की रक्षा के लिए रङ्ग के विभिन्न भागों में विभिन्न देवताओं की नियुक्ति की गई। ब्रह्मा जी ने नाट्य के स्वरूप को समझाते हुए दानवों को शान्त कर दिया। नाटक सप्तद्वीपों के कार्यकलापों की अनुकृति है। इसका उद्देश मनोरञ्जन और शिक्षा दोनों ही है।

दूसरे अध्याय में विकृष्ट, चतुरस्र और त्रिकोण इन तीन प्रकार के रङ्गों अथवा प्रेक्षाग्रहों का वर्णन किया गया है। रङ्गशाला में कितनी भूमि होनी चाहिए उसमें कितने अङ्ग होते हैं इत्यादि सभी विषयों का समावेश इस अध्याय में है। भारतवर्ष में रङ्गभूमि का स्वरूप क्या था इसको समझने के लिए इस अध्याय से बहुत सहायता मिलती है। नेपथ्य, रङ्गशीर्ष, रङ्गपीठ, मत्तवारणी, प्रेक्षाभवन, यवनिका इत्यादि अनेक विषयों का सूक्ष्म स्वरूप इस अध्याय में विस्तारपूर्वक बतलाया गया। इस अध्याय को नाट्यशास्त्र का वास्तु वर्णन कह सकते हैं।

तीसरे अध्याय में रङ्गदैवतपूजन का विवरण दिया गया है। यह विषय पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत है। नाट्याचार्य को रङ्गस्थापना के पश्चात् किस प्रकार देवताओं की स्तुति पूजन और अर्चन, जर्जर का पूजन, हवन इत्यादि करना चाहिए तथा इस पूजन का क्या फल होता है यही सब बातें इस अध्याय में बतलाई गई हैं। प्रथम अध्याय एवं तृतीय अध्याय में जिन देवताओं का उल्लेख हुआ है उनके नामों से पता चलता है कि नाट्यशास्त्र की रचना के समय वैदिक एवं पौराणिक दोनों ही प्रकार के देवताओं का पूजन प्रचलित था।

चौथे अध्याय में ताण्डव का लक्षण कहा गया है। पर आरम्भ में पहले अमृतमन्थन नामक समवकार और त्रिपुरदाह नामक डिम के अभिनय का वर्णन हुआ है। इसके पश्चात् नृत्य के १०८ करणों, ३२ अङ्ग-

हारों और ४ रेचकों के साथ अन्य बहुत से वृत्त सम्बन्धी विषयों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इस अध्याय को संगीत के नृत्य नामक अङ्ग की आधार शिला कहा जा सकता है।

पाँचवें अध्याय में पूर्वरङ्ग की विधि का वर्णन है। नान्दी एवं प्रस्तावना इत्यादि की परिभाषाओं के साथ ही साथ इसमें और भी अनेक ऐसे विषयों का वर्णन है जिनका उपयोग मुख्य नाटक के आरम्भ होने के पूर्व होता है।

छठे अध्याय में मुनियों ने भरतमुनि से रसों के विषय में पाँच प्रश्न किये हैं और भरतमुनि ने रस और भाव के सम्बन्ध में अपना मत विस्तारपूर्वक समझाया है। यहीं से संस्कृत साहित्य में रस की चर्चा आरम्भ हुई है। "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इस रससूत्र की उपलब्धि सर्वप्रथम इसी अध्याय में ३१वें श्लोक के पश्चात् आनेवाले गद्यखण्ड में होती है। इसके उपरान्त रसों के आठ भेदों का वर्णन किया गया है।

सातवें अध्याय में भाव, विभाव और अनुभावों के स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् स्थायीभावों, व्यभिचारी (अथवा संचारीभावों) सात्विक भावों इत्यादि का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अन्त में इनके कार्यों का वर्णन है। छठे और सातवें अध्याय साहित्य शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पीछे के आचार्यों का रसविवेचन इन्हीं पर आश्रित है। यह दोनों अध्याय गद्य-पद्य की मिश्रित शैली में लिखे गये हैं।

आठवें अध्याय में आङ्गिक, सात्विक, वाचिक और आहार्य (वस्त्रभूषा सम्बन्धी) इन चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन है। इस अध्याय का नाम उपाङ्गविधान भी है। इसे शिर, दृष्टि, (भ्रू, पलकों), कपोल, ओष्ठ, अधर, चिबुक, मुख, नासा और ग्रीवा इत्यादि के कर्मों का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ वर्णन मिलता है। दृष्टि को तो अभिनय की आत्मा ही कहना चाहिए। भरत ने दृष्टि-कर्म का जो मार्मिक वर्णन किया है वह

अद्वितीय ही कहा जायेगा। चार पंक्तियों को छोड़कर यह समग्र अध्याय पद्यात्मक है।

नवें अध्याय में हस्ताभिनय का वर्णन है। हस्ताभिनय के अन्तर्गत असंयुत-हस्त, संयुत-हस्त एवं नृत्तहस्त इन तीन विभागों में हाथों के द्वारा भावाभिव्यञ्जना की विधियाँ बतलाई गई हैं। अत में हाथों के चार प्रकार के करण बतलाये गये हैं और बाहुओं के दश प्रकार।

दशम अध्याय में शरीराभिनय बतलाया गया है। इसके अन्तर्गत उरः, पार्श्व, जठर, कटि, ऊरु, जंघा एवं पाद आदि द्वारा अभिनय की विधि बतलाई गई है।

एकादश अध्याय में चारी विधान का वर्णन है। चरणों (=पाद, जंघा ऊरु और कटि) के द्वारा जो अभिनय संभव हैं उनको चारी कहा जाता है। इनके भौमी और आकाशिकी भेदों के अनेकों उपभेदों का सूक्ष्म वर्णन इस अध्याय में मिलता है। अन्त में शस्त्रमोचण के भारत, सात्वत, वार्षगण्य एवं कैशिक नामक चार न्याय बतलाये गये हैं। अङ्गों को ठीक प्रकार से संचालित किया जा सके इसलिए व्यायाम का भी निर्देश किया गया है।

बारहवें अध्याय का नाम मण्डलविधान है। चारियों के संयोग से विविध मण्डलों की उत्पत्ति होती है। यह दो प्रकार के होते हैं— १ आकाशगामी तथा २ भौम। इन्हीं के अवान्तर भेदों का वर्णन १२वें अध्याय में किया गया है। अध्याय के अन्त में मण्डल प्रयोग की विधि वर्णन की गई है।

त्रयोदश में गति प्रचार का वर्णन है। किस रस में किस प्रकार की गति होनी चाहिए, किसयान में कैसी गति होनी चाहिए, किस प्रकार की प्रकृति के अनुरूप कैसी गति होनी चाहिए इत्यादि विविध गति प्रकारों का इस अध्याय में वर्णन किया गया है। पुरुष यदि स्त्री का अभिनय करे अथवा स्त्री-पुरुष का तो यह कैसा हो यह भी इसी अध्याय में प्रदर्शित किया गया है। अन्त में पुरुष और स्त्रियों के आसन (बैठने) का

भी विस्तार के साथ वर्णन है। आठवें अध्याय से लेकर तेरहवें अध्याय तक जो आङ्गिक अभिनय वर्णन किया गया है वह अत्यन्त आश्चर्यजनक है। इससे पता चलता है भरत के समय तक मनुष्य की आङ्गिक भाषा का कितना सूक्ष्म अध्ययन किया जा चुका था। मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान उस समय अत्यन्त समुन्नत दशा को पहुँच चुके थे।

चतुर्दश अध्याय का नाम प्रवृत्तिधर्मव्यञ्जन है। आरंभ में इस अध्याय में रङ्गमंच के विभागों का (कक्ष्याओं का) वर्णन किया गया है। इससे यह सूचित होता है कि रङ्ग में नगर, पर्वत उद्यान इत्यादि की स्थिति कहाँ-कहाँ होनी चाहिये। इसके पश्चात् विविध देशों की प्रवृत्तियों का वर्णन है। प्रवृत्तियों के स्वरूप का निरूपण एक गद्यखंड में किया गया है। मुख्यतया दक्षिण, अवन्ती, औड्रमगध और पंचाल इन देशों की प्रवृत्तियों का वर्णन दिया गया है। अन्त में नाट्य के लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दो भेदों का वर्णन है।

पन्द्रह से लेकर १९वें अध्याय तक वाचिक अभिनय का वर्णन है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से इन अध्यायों का महत्त्व बहुत अधिक है। १५वें अध्याय का नाम छन्दोविभाग है। आरंभ में वाणी का अभिनय में क्या महत्त्व है इसके संबन्ध में भरतमुनि ने यहाँ तक कह डाला कि "तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्घि सर्वस्य कारणम्"—अर्थात् अभिनय में वाणी से ऊँची अन्य कोई विधि नहीं है। पाठ्य दो प्रकार का होता है—संस्कृत और प्राकृत। इसके पश्चात् थोड़ा व्याकरण का विषय आता है। तदुपरान्त छन्दों का वर्णन है। भारतीय छन्दःशास्त्र में छन्दों और वृत्तों का प्रस्तारविस्तार कितना है इसको देखना हो तो इस अध्याय को पढ़ जाइये।

सोलहवें अध्याय में उदाहरणों के सहित वृत्तों के नाम और लक्षण कहे गये हैं। संस्कृत भाषा में वृत्तों के नाम जितने कवित्वपूर्ण हैं उतने अन्य किसी भाषा में नहीं हैं। दोधक, मोटक, तोटक, गजविलसित, प्रवर-ललित, वृषभचेष्टित, वंशपत्रपतित, शार्दूलविक्रीडित, अश्वललित,

मद्रक, भुजंगविजृम्भित, दण्डक, वक्त्र, अपखक्त्र इत्यादि थोड़े से वृत्तों को छोड़कर शेष अन्य सब वृत्तों के नाम स्त्रीवाची हैं। अन्त में प्रस्तार की विधि बतलाई गई है जो गणित का विषय है। विभिन्न हस्तलिखित पुस्तकों में इस अध्याय में वैकल्पिक पाठ बहुत अधिक मिलते हैं।

सत्रहवें अध्याय में ३६ लक्षणों ४ अलङ्कारों, तथा काव्य के गुणों और दोषों का वर्णन किया गया है। अन्त में अलङ्कारों का और ह्रस्व-दीर्घ तथा प्लुत स्वरों का रसों में किस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिये यह बतलाया गया है। किस प्रकार के पात्र के लिये नाट्य में किस प्रकार के शब्दों का प्रयोग समुचित है यह बतलाकर इस अध्याय की समाप्ति की गई है। वैकल्पिक पाठ इस अध्याय में भी बहुत मिलते हैं।

अष्टादश अध्याय का नाम भाषा-विधान है। भाषाशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों ही की दृष्टि से इस अध्याय का महत्त्व स्पष्ट है। इस अध्याय में विविध प्राकृत भाषाओं के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। संस्कृत शब्दों का प्राकृत में किस प्रकार रूपान्तर हो जाता है यह भी बतलाया गया है। अध्याय के अन्त में यह बतलाया गया है कि कौन पात्र किस प्राकृतभाषा का प्रयोग करे।

उन्नीसवें अध्याय में प्रथम तो यह बतलाया गया है कि पात्रों का परस्परसंभाषण किस प्रकार होना चाहिये। छोटे, बड़े और मध्यम स्थिति के पात्र एक दूसरे को किस प्रकार से सम्बोधित करें इसके विषय में बड़े बारीक नियम निर्धारित किये गये हैं। सप्त स्वरों का पाठ्य में किस प्रकार प्रयोग किया जाय और काकु का कैसा उपयोग इसका सूक्ष्म वर्णन किया गया है।

बीसवें अध्याय का नाम तो दश-रूपविधान है पर इसमें ११ प्रकार के नाटकों का निरूपण किया गया है। इनके नाम (१) नाटक, (२) प्रकरण (३) नाटिका, (४) समवकार, (५) ईहामृग, (६) डिम, (७) व्यायोग, (८) उत्सृष्टिकाङ्क, (९) प्रहसन, (१०) भाण और (११) बीथी हैं। इनके लक्षणों के वर्णन के पश्चात् लास्य नामक नृत्य और उसके अङ्गों का वर्णन है।

यह अध्याय नाटकों के स्वरूप को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे पता चलता है नाटक और प्रकरण यह दो भेद को सर्वाङ्गपूर्ण रूपक होते हैं तथा वीथी, अङ्क और व्यायोग प्राचीन काल के एकाङ्की नाटक हैं। प्रकरण, प्रहसन, भाण और वीथी की कथावस्तु का संबन्ध सामाजिक जीवन से है, शेष नाटकों का विषय वीर रस से संबन्ध रखनेवाला होता है। अंक, समवकार, डिम औरमृग नामक नाटकों में देवताओं के युद्ध और पराक्रमआदि का वर्णन रहता है। उपरूपकों का प्रचलन नाट्यशास्त्र के समय तक नहीं हुआ था।

इक्कीसवें अध्याय में इतिवृत्त अथवा कथावस्तु के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इतिवृत्त दो प्रकार का होता है आधिकारिक और प्रासङ्गिक। इनके स्वरूप को बतलाने के पश्चात् इतिवृत्त की पाँच अवस्थाओं, पाँच अर्थप्रकृतियों तथा पाँच सन्धियों का वर्णन है। तदनन्तर यह बतलाया गया है कि विभिन्न रूपकों में सन्धियों की कैसी व्यवस्था रहती है और किसमें कितनी सन्धियाँ होती हैं। इसके उपरान्त ६४ सन्ध्यङ्गों का वर्णन है। तत्पश्चात् विष्कम्भक, चूलिका, प्रवेशक, अङ्कावतार और अङ्कमुख नामक पाँच अर्थोपक्षेपकों के लक्षण कहे गये हैं। अध्याय के अन्त में नाटक के स्वरूप और उसमें अपेक्षित गुणों का सविस्तर वर्णन है।

बाईसवें अध्याय में वृत्तियों का वर्णन हैं। वृत्तियाँ चार होती हैं, भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी। यद्यपि इन वृत्तियों का नामोल्लेख प्रथम और चतुर्दश अध्याय में भी हुआ है पर उनका साङ्गोपाङ्ग वर्णन यहीं मिलता है। इन वृत्तियों का उद्भववेदो से हुआ है। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं। पर भारती वृत्ति के आमुख (अथवा मुख) नामक भेद के पाँच अङ्ग होते हैं। अन्त में वृत्तियों और रसों के सम्बन्ध का निरूपण करके नाटक के स्थायी भाव को ही रस तथा शेष भावों को संचारी कहा है।

तेईसवें अध्याय में आहार्य अभिनय का वर्णन है। नाट्य में किस

प्रकार की वेषभूषा और रूपसज्जा आवश्यक होती है यह इस अध्याय का विषय है। पुरुष और स्त्रियों के आभूषणों का भाव और रसों के सम्बन्ध में वर्णन कर बहुभूषण का निषेध किया गया है। प्राचीन भारतीय सभ्यता में रूपसज्जा किस प्रकार की होती थी इसकी जानकारी के लिये यह अध्याय अत्यन्त उपयोगी है। मुकुट, दण्ड, शस्त्र इत्यादि का भी वर्णन इस अध्याय में हुआ है।

चौबीसवें अध्याय, में सामान्यभिनय का परिचय दिया गया है। यह अपेक्षाकृत अधिक लम्बा अध्याय है। पहले नाट्याश्रय अलङ्कारों का वर्णन करके तदुपरान्त हाव, भाव हेला इत्यादि के लक्षण कहे गये हैं। तत्पश्चात् स्त्रियों के स्वभावज और अयत्नज अलङ्कारों का उल्लेख है। शारीर अभिनयों के पश्चात् अभिनयात्मक अलङ्कारों को बतलाया गया है। सामान्य अभिनय का स्वरूप बतला कर रूपरसादि पञ्चविषयात्मक अभिनय का वर्णन किया गया है। पर प्राधान्य मनःसम्बन्धी अभिनय को ही दिया गया है। तदनन्तर कामदशा का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। इसी के अन्तर्गत स्त्रियों के विविध प्रकार के शीलों का निरूपण किया गया है। काम की दश अवस्थाओं का भी पृथक्-पृथक् वर्णन इस अध्याय में मिलता है। अन्त में अष्टविध नायिकाओं के लक्षण कह कर, स्त्रियाँ अपने प्रियजनों से कैसे बचन बोलें यह बतलाया गया है। अन्त में दिव्याङ्गनाओं के स्वरूप और व्यवहार का वर्णन है।

पच्चीसवें अध्याय में वेश्या और वैशिकों के सम्बन्ध का वर्णन है। दूतियों और अनुरक्त अथवा विरक्त स्त्रियों का लक्षण कहकर प्रकृति के अनुसार उनका विभाजन किया गया है। चार प्रकार के यौवनलम्भों का सविस्तर कथन करके पुरुषों की पञ्चविधता कही गई है। कामुकों के साम, दान, दण्ड भेद का वर्णन इसी अध्याय में वर्णित है। उपर्युक्त दो अध्यायो की बहुत कुछ सामग्री कामशास्त्र से ली गई है।

छब्बीसवें अध्यांय का नाम है चित्राभिनय। इसमें यह बतलाया गया है कि किस समय और किस ऋतु का प्रदर्शन किस प्रकार किया

जाय । भाव, विभाव, अनुभाव के अभिनय का निरूपण करके यह बतलाया गया है कि स्त्रियों और पुरुषों के अभिनय का प्रकार भिन्न होना चाहिये । तदनन्तर हर्ष, क्रोध, ईर्ष्या, दुःख, भय और मदादि भावों के अभिनय की शिक्षा दी गई है । पशु, पक्षी, देव मानव इत्यादि के अभिनय किस प्रकार हों यह भी कहा गया है । इसके उपरान्त, आकाशवचन, आत्मगत, अपवारित, जनान्तिक, कर्णेनिवेदन, पुनरुक्त इत्यादि विशिष्ट नाट्योक्तियों का निरूपण किया गया है । स्वप्न, मरण, विषवेग इत्यादि के अभिनय का वर्णन करके अन्तिम रहस्य यह बतलाया गया है कि अभिनय पात्र के स्वभाव के अनुकूल होना चहिए । अध्याय के अन्त में नाटयशात्र और नाट्य के तीन प्रमाण कहे गये हैं—लोक, वेद तथा अध्यात्म । इनमें लोक प्रमाण का प्राधान्य प्रतिपादित किया गया है । इससे यह स्पष्ट सिद्ध है भरत के नाटयशास्त्र की समग्र सामग्री और भारतीय नाट्य लोकस्थिति के वास्तविक अनुभव पर अन्वित हैं ।

सत्ताईसवाँ अध्याय सिद्धिव्यञ्जन कहलाता है । नाट्य के अभिनय में किस प्रकार और किन-किन उपकरणों से सिद्धि (= सफलता) प्राप्त हो सकती है, यह अध्याय का विषय है । अतएव यह अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । सिद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं वाङ्मयी और शारीरी— अथवा मानुषी, और दैवी । सिद्धि के मार्ग में चार प्रकार के घात हो सकते हैं । घातों के इन चार के अतिरिक्त और भी प्रकार हो सकते हैं। प्रचीन काल में नाटकों के अभिनय के परीक्षण के लिये प्रेक्षक और प्राश्निक भी होते थे । इनके गुणों का वर्णन इस अध्याय में किया गया है । यह भी बतलाया गया है कि इन लोगों कहाँ बैठाना चाहिए । सिद्धि की दृष्टि से नाट्य के लिये समुचित अथवा निषिद्ध समय का निर्देश किया गया है । अन्त में सिद्धि के लिए आवश्यक तीन गुणों—यथासमुदय प्रयोग, समृद्धि और गुण सम्पन्न पात्र—को कहा गया है ।

आट्ठाईसवें अध्याय से लेकर तैंतीसवें अध्याय तक संगीशास्त्र का विषय वर्णित है जिसका सम्बन्ध गायन और वादन से है । नाट्यशास्त्र

केवल साहित्यशास्त्र का ही आदि ग्रंथ नहीं है प्रत्युत संगीतशास्त्र का भी आकर ग्रन्थ है। लास्य और ताण्डव इत्यादि का वर्णन तो पिछले अध्यायों में हो ही चुका। इन अध्यायों में संगीत के शेष अंगो – वादन और गायन का वर्णन है। अट्ठाईसवें अध्याय में आतोद्य की चार विधियाँ—तत, अवनद्ध, घन और सुषिर-वर्णित हैं। इनका तीन प्रकार का प्रयोग कहा गया है। गान्धर्व की स्वरगत, तालगत, एवं पदगत-विधियों का वर्णन भी इसी अध्याय में है। अध्याय के अन्त में स्वरों, श्रुतियों, मूर्च्छनाओं और जातियों का वर्णन है। जातियों के वर्णन के उपरान्त अंश ग्रहविधि का सूक्ष्म वर्णन है। यह अध्याह संगीतशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें गद्यांश भी पर्याप्त है।

उन्नीसवें अध्याय का नाम ततातोद्यविधान है। आरंभ में यह बतलाया गया है कि कौन स्वरवाली कौन जाति किस रस के लिए उपयुक्त होती है। तदुपरान्त रसों के क्रम के अनुसार वाद्यप्रयोग में विहित स्वरों का निरूपण किया गया है। आरोही, अवरोही, स्थायी, सञ्चारी इत्यादि के लक्षणों के उपरान्त वर्णालङ्कारों और गीतालङ्कारों का वर्णन है तदनन्तर गीतियों के नाम और लक्षण कहे गये हैं। इसके पश्चात् साधुवाद्यों के लक्षण बतलाये गये हैं, जिनकी चार धातुओं और तीन विधियों को विस्तार से कथन किया गया है। तदुपरान्त वैणववाद्य और विपञ्ची वाद्य का रहस्य उद्घाटिक किया गया है इसके उपरान्त वहिर्गीत के संबंध में आश्रावणा, आरंभ वक्त्रपाणि, संघोटना, परिघट्टना मार्गासरित और लीलाकृत की योजना कही गई है। इस अध्याय में गद्य भाग अत्यन्त स्वल्प है।

तीसवाँ अध्याय समग्र नाट्यशास्त्र में सबसे छोटा है। इसमें सुषिर—अर्थात् बाँसुरी के बजाने की विधि कही गई है।

इकतीसवाँ अध्याय आकार में नाट्यशास्त्र में सबसे बड़ा है इसका नाम है तालव्यञ्जन तथा इसमें, कला, लय और तालों के लक्षण और भेद अत्यन्त सूक्ष्मता और विस्तार के साथ कहे गये हैं। काशी संस्कृत

ग्रंथमाला (सिरीज़) वाले संस्करण में इस अध्याय में एक विचित्र बात यह मिलती है कि ताल प्रकार के उपरान्त एकदम "कामतंत्राभिनय" प्रकरण छेड़ दिया गया है जो ६० श्लोकों में है और प्रस्तुत अध्याय से मेल नहीं खाता। इसके पश्चात् पुनः तालप्रपञ्च का वर्णन आरंभ हो जाता है। आसारित और वर्द्धमानक विधि के पश्चात् गीतों के लक्षण और अङ्गों का वर्णन है। ध्रुवों के ताल-विधान का वर्णन करके लास्य के लक्षण और अङ्गों का विस्तार के साथ कथन किया गया है। ताल को भली भाँति समझना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि "जो ताल को नहीं जानता न वह गायक है न वादक"। अध्याय के अन्त में लय के तीन प्रकार कहे गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अध्याय में एक से अधिक अध्ययों की सामग्री संचित कर दी गई है। इसका स्वरूप एक समस्या है।

बत्तीसवें का नाम है ध्रुवाविधान। आरंभ में ध्रुवा के स्वरूप का निरूपण किया गया है और उसके पाँच भेद बतलाये गये हैं। इसके पश्चात् इनका छन्दोवृत्त निदर्शन है। ध्रुवाओं का यह छन्दोवृत्तनिदर्शन संगीत और छन्दःशास्त्र का संधिस्थल है। इसके पश्चात् ध्रुवाओं के पञ्चहेतुक विकल्पों का वर्णन है। किस भाव को सूचित करने के लिये किस ध्रुवा का प्रयोग हो इस विषय को भी इस अध्याय में कहा गया है। अध्याय के अन्त में गायक और वादक के अपेक्षित गुणों और परित्याज्य दोषों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय का आकार भी अत्यन्त विशाल है यद्यपि वह इकतीसवें अध्याय से कुछ छोटा है। इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ध्रुवाओं के छन्दोवृत्तविधान के अन्तर्गत बहुत से प्राकृत पद्यों को उद्धृत किया गया है जो इस बात को सूचित करते हैं कि भरत के समय तक प्राकृत काव्य भी अत्यन्त समृद्धि को प्राप्त हो चुका था। यह सब पद्य संभवतया पूर्वकालीन नाटकों से ही संकलित हुए होंगे। पर आज वह सब नाट्य साहित्य कहाँ है ? इस अध्याय में गद्य की मात्रा भी पर्याप्त है।

तेंतीसवें अध्याय का नाम है वाद्यविधान। इसके आरंभ में एक छोटी सी कथा द्वारा यह बतलाया गया है कि स्वाति नामक गन्धर्व ने वाद्यों की रचना किस प्रकार की। नारद और स्वाति गान्धर्व विद्या के आद्याचार्य हैं। मृदंग, पणव, दर्दुर, पटह, झल्लरी, विपञ्ची, चित्रा, कच्छपी, घोषका, बाँसुरी इत्यादि वाद्यों का नाट्य में ही नहीं, प्रत्युत उत्सव, यान, मङ्गलकार्य, विवाह और युद्ध तक में रस और भावों के अनुसार प्रयोग होता है अतएव यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। जो वाद्य चर्म से खिंचे होते हैं वह अवनद्ध कहलाते हैं उनका निरूपण इस अध्याय में विशेष रूप से किया गया है। इनके भेद और बजाने की विधियों का वर्णन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया गया है। इसके उपरान्त तीन प्रकार की मार्जना और गुरुसञ्चय और लघुसञ्चय का स्वरूप बतलाया गया है। तदनन्तर जातियों और प्रकारों का एवं उनके प्रयोग का वर्णन है। अध्याय के अन्त में आतोद्यों और वादकों के लक्षण कहे गये हैं।

चौंतीसवें अध्याय में स्त्री और पुरुष पात्रों की प्रकृति का निरूपण किया गया है। स्त्रियों की प्रकृति तीन प्रकार की और नायकों की चार प्रकार की कही गई है। इनके सङ्कीर्ण भेद भी होते हैं। राजाओं के अन्तःपुर की स्त्रियों का वर्णन नाट्यशास्त्र में विशेष रूप से किया गया है। अध्याय के अन्त में अन्तःपुर में स्थित अन्य लोगों का भी उल्लेख किया गया है। मंत्री, सेनापति पुरोहित इत्यादि का वर्णन करके इस अध्याय को समाप्त किया गया है।

पैंतीसवें अध्याय में नाटक के परम्परा रूढ़ पात्रों का वर्णन है। इनके अन्तर्गत सूत्रधार पारिपार्श्विक, विट, विदूषक, शकार, चेट, नट, मुकुटकार, मालाकार, रजक इत्यादि के स्वरूप का निरूपण किया गया है। चौंतीसवें और पैंतीसवें दोनों अध्यायों का संबंध नाटक के साहित्यिक पक्ष से है। मुख्यतया इनमें नायक और नायिकाओं की प्रकृति का वर्णन किया गया है।

छत्तीसवें अध्याय के आरंभ में मुनियों के नामों की लम्बी तालिका दी हुई है। यह वही मुनि हैं जिनका उल्लेख प्रथम अध्याय के आरंभ में किया गया है तथा जिनकी प्रार्थना पर भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र का निरूपण किया है। इस अन्तिम अध्याय में उन्होंने भरत मुनि से पुनः कुछ प्रश्न पूछे हैं। उन प्रश्नों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि नाट्यशास्त्र स्वर्ग से पृथ्वी पर किस प्रकार अवतीर्ण हुआ। इसी के आधार पर इस अध्याय का नाम भी नाट्यावतार पड़ा है। पर इस प्रश्न के उत्तर से पूर्व भरत मुनि ने पूर्वरङ्ग और नान्दी के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कुछ समय के उपरांत स्वर्ग में भरत मुनि के पुत्र नाट्यवेद के ज्ञान के मद से मत्त हो गये और उन्होंने मुनियों का अपमान कर डाला। मुनियों ने भरतपुत्रों को शाप दिया कि तुम ब्राह्मणों का आचरण छोड़कर शूद्र हो जाओगे। तुम्हारा वंश और उसमें उत्पन्न होने वाले सब शूद्र नर्तक होंगे। दूसरों की सेवा करना हीं तुम्हारा कार्य होगा। देवताओं को जब भरतपुत्रों के शापित होने का पता चला तो वे अत्यन्त दुःखी हुए। उन्होंने ऋषियो से शापमोचन की प्रार्थना की तो ऋषियों ने कहा कि नाट्य तो नष्ट नहीं होगा पर उनका शेष शाप ज्यों का त्यों रहेगा। इसके कुछ समय पश्चात् नहुष नामक राजा देवराज के पद पर आरुढ़ हुए। उन्होंने गान्धर्व और नाट्य को देखकर देवताओं से कहा कि अप्सराओं का यह नाट्य हमारे गृह में हो। बृहस्पति इत्यादि ने राजा को समझाया की सुराङ्गनाओं का मानुषों के साथ संगम नहीं हो सकता। हाँ आचार्य आपके घर जाकर आपका प्रिय करें। तब राजा ने भरत मुनि से कृताञ्जलि होकर प्रार्थना की कि हे भगवन् मैं इस नाट्य को पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता हूँ। इसके पूर्व भी उर्वशी द्वारा इसका ज्ञान पृथ्वीतल पर बतलाया गया था पर वह अब नष्ट हो चुका है। अब पुनः हम इसको प्रकट रूप में पृथ्वी पर प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहते हैं जिससे विशिष्ट अवसरों पर इसका मङ्गलकारी अभिनय हो सके। भरत मुनि ने अपने पुत्रों को समझा कर भूलोक

जाकर नाटक का प्रचार करने को कहा और उनको सम्यक् प्रयोग करने पर शाप का अन्त कर देने का वचन दिया। इस प्रकार इस नाट्यशास्त्र का भूतल पर अवतार हुआ।

कुछ पुस्तकों में नहुष की कथा का अंश सैंतीसवें अध्याय के रूप में वर्णित है। इसमें कुछ श्लोक नाट्यशास्त्र की भौम परम्परा को भी सूचित करते हैं। पृथ्वी पर जानेवाले अपने पुत्रों को भरत मुनि ने बतलाया कि :—

युष्माकं चैव संक्षेपात् नहुषस्य महात्मनः।
आप्तोपदेशसिद्धिश्च नाट्ये प्रोक्ता स्वयम्भुवा।
शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति।
... ...
कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिलधूर्त्तिलैः।
मर्त्यधर्मतया युक्तैः काञ्चित्कालभवस्थितैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तन्तु नराणां बुद्धिवर्द्धनम्।

इन पंक्तियों से यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि स्वर्ग लोक का दिव्य नाट्यशास्त्र अत्यन्त विशालकाय था उसका उपलब्ध पार्थिव संस्करण अत्यन्त संक्षिप्त है; तथा भूलोक में इसका प्रयोग भरतमुनि के मर्त्य-भाव को प्राप्त हुए पुत्रों के द्वारा किया गया। अध्याय के अन्त में नाट्य-की फलश्रुति कही गई है। ब्रह्मा के मुख से निःसृत यह नाट्यवेद माङ्गल्य, पुण्यवान्, पवित्र, शुभ और पापविनाशक है। इसका सुनना, प्रयोग (=अभिनय) करना, और ध्यानपूर्वक देखना वेदज्ञों, याज्ञिकों और दानशील पुरुषों की गति देनेवाला है देवता गन्धमाल्यों से पूजित होने पर उतने तृप्त नहीं होते जितने नाट्य के प्रयोग को जाननेवालों के स्तुति मङ्गल से सन्तुष्ट होते हैं। जो मनुष्य गान्धर्व और नाट्य दोनों को भली भाँति जानता है वह पुण्यवाली सद्गति को प्राप्त होता है और ब्रह्मर्षियों के तुल्य होता है। इस शास्त्र का अन्तिम श्लोक उप-लब्ध नाटकों के भरत वाक्य के सदृश् है :—

एवं नाट्यप्रयोगे बहु बहु विहितं कर्म शास्त्रप्रणीतम् ।
न प्रोक्तं यच्च लोकादनुकृतिकरणं तच्च कार्यं विधिज्ञैः ।
किञ्चान्यत् शस्यपूर्णा भवतु वसुमती शाश्वती नष्टरोगा ।
शान्तिर्गोब्राह्मणानां नरपतिरवनिं पातु चेमां प्रशस्ताम् ॥

४—भरत और भरतपुत्र ।

नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं। संस्कृत वाङ्मय में पाँच भरतों का उल्लेख है, (१) जड़भरत (२) मांधाता का प्रपौत्र भरत, (३) दाशरथि भरत (४) दौष्यन्ति भरत और (५) नाट्यकार भरत । नाट्यशास्त्र के प्रवर्त्तक भरतमुनि के विषय में मत्स्यपुराण (२४।२७-३२) को छोड़कर अन्य पुराणों में कहीं कुछ नहीं मिलता । इन श्लोकों में भरतमुनि का नाम पाँच बार आया है। देवलोक में भरतमुनि ने लक्ष्मी-स्वयंवर नामक नाटक की योजना की । इसमें उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी । पर देवसभा में स्थित पुरुरवा के रूप को देखकर वह ऐसी मोहित हुई कि अपने अभिनय को भूल गई । इस पर भरतमुनि ने अप्रसन्न होकर उर्वशी और पुरुरवा दोनों को ही शाप दे दिया। कालिदास ने भी इस कथा की ओर सङ्केत किया है पर भरत का नामोल्लेख एक बार ही किया है । विक्रमोर्वशीय नाटक में (२।१८) निम्नलिखित श्लोक में भरत और उनकी कृति का उल्लेख अवश्य हुआ है । यथा—

मुनिना भरतेन यः प्रयागो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥

अर्थात्—"भरतमुनि ने आठ रसों का आश्रयस्वरूप जो नाट्याभिनय तुम अप्सराओं में संचारित किया था उसी ललिताभिनय को आज मरुत्पति इन्द्र लोकपालों के सहित देखना चाहते हैं।" तथापि मत्स्यपुराण तथा कालिदास के पौर्वापर्य का निश्चय करना कठिन है ।

क्योंकि नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के विषय में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं हैं अतएव उनके जीवनचरित्र और व्यक्तित्व के विषय में

कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ आलोचकों के मत में भरत जैसा कोई एक व्यक्ति ऐसा नहीं था जिसको नाट्यशास्त्र का प्रणेता कहा जा सकता। नट लोग स्वाँग भरते थे अतएव वे भरत कहलाते थे। उनके कार्य के विषय में नियमादि जिस पुस्तक में संगृहीत थे वह भरतनाट्य कहलाई और पीछे चलकर एक कल्पित भरतमुनि को उसका प्रणेता मान लिया गया। श्री० पी० वी० काणे के मत में नाट्यशास्त्र के प्रारम्भिक अध्याय पीछे से जोड़े गये हैं और भरत के नाम का उल्लेख इन्हीं में अधिक हुआ है। डॉ० मनमोहन घोष के मत में भी भरत एक काल्पनिक व्यक्ति हैं।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरतमुनि के १०० अथवा १०५ पुत्रों की लम्बी सूची दी हुई है। इनमें से चार नाम (कोहल, दत्तिल अथवा धूर्त्तिल, शाण्डिल्य और वात्स्य) ऐसे हैं जिनकी पुनरावृत्ति अन्तिम अध्याय में भी हुई है। कोहल और दत्तिल की रचनाओं के उद्धरण अभिनवभारती टीका में मिलते हैं, अतएव वे नाट्यशास्त्र पर ग्रंथरचना करनेवाले व्यक्ति थे। प्रथम अध्याय की सूची में से अश्मकुट्ट, नखकुट्ट और बादरि अथवा बादरायण के नाम से भी कुछ उद्धरण सागरनन्दिन् और विश्वनाथ की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। सम्भवतया यह भी नाट्यशास्त्र पर लिखनेवाले आलोचक थे। अवशिष्ट भरतपुत्रों के विषय में अभी कुछ ज्ञात नहीं हो सका है।

भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य बहुत कुछ नष्ट हो चुका है। यदि वह सब उपलब्ध होता तो शेष भरतपुत्रों के विषय में भी अधिक जानकारी प्राप्त हो सकती थी। इस लम्बी तालिका में बहुत ऐसे व्यक्तियों के नाम होंगे जो लेखक और अभिनेता दोनों रहे होंगे, कुछ ऐसे भी होंगे जो केवल लेखक अथवा केवल अभिनेता ही थे। सम्भव है कि कुछ नाम केवल काल्पनिक ही हों। कई एक शब्द ऐसे भी हैं जो विशेषण मात्र हो सकते हैं।

५—नाट्यशास्त्र का रचना काल

सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय यह ग्रन्थ जिस रूप में उपलब्ध होता है वह एक ही व्यक्ति और एक ही समय की रचना नहीं हो सकता। यों तो अधिकांश में यह अनुष्टुप् (=श्लोकों) में रचा गया है पर कहीं-कहीं अन्य छन्द और गद्य भी उपलब्ध होता है। विभिन्न आलोचकों का इस विषय में पर्याप्त मतभेद है कि आदि नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत नाट्यशास्त्र का कितना अंश विद्यमान था।

इतना तो निर्विवाद सिद्ध है आद्यनाट्यशास्त्र भास तथा कालिदास के समय उपलब्ध था और यह दोनों कवि उससे परिचित थे। कालिदास ने तो भरत का नामोल्लेख तक किया है, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। भास ने यद्यपि भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों का सर्वदा पूर्णरूपेण पालन नहीं किया है तथापि उसके नाटकों में अनेकों ऐसे शब्द और सङ्केत मिलते हैं जिनके आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भास नाटयशास्त्र से परिचित था।

इन तथ्यों के आधार पर वह कहा जा सकता है कि नाटयशास्त्र अपने आद्यरूप में ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में अवश्यमेव विद्यमान था। पर इसकी रचना इससे भी पूर्व हुई होगी। अश्वघोष प्रथम शताब्दी ईसवी के लेखक और कवि हैं। उनके सारिपुत्रप्रकरण नामक नाटक का जो खण्डित अंश उपलब्ध हुआ है उसके विषय में भी आलोचकों का मत यही है उस पर नाटयशास्त्र प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में नाटयशास्त्र के १५वें अध्याय पर कातन्त्र व्याकरण का प्रभाव पड़ना वर्णन किया है और उपलब्ध कातन्त्र व्याकरण का समय ४००-५०० वर्ष विक्रमपूर्व बतलाया है। इस साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता

है कि नाट्यशास्त्र की रचना ५०० वर्ष विक्रम पूर्व से लेकर १०० ई० पश्चात् तक के मध्य में किसी समय हुई होगी। बहुत कुछ संभव है कि नाट्यशास्त्र की रचना भी उसी समय के आस-पास हुई हो जिसमें अरिस्तॉतीली के "पेरि पोइतिकीस" नामक ग्रन्थ की हुई थी।

इतनी बात तो निर्विवाद है कि भारतीय साहित्य में भरत का नाट्यशास्त्र अपने विषय की आद्य और सर्वाङ्गपूर्ण रचना है। नाट्यशास्त्र के सम्बंध में ऐसा कोई अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसका ऋणी नाट्यशास्त्र हो तथा जो नाट्यशास्त्र का ऋणी न हो। किम्बहुना इस समय तो यही कहा जा सकता है नाट्यशास्त्र के सूत्रपात के साथ ही भारतीय साहित्य-शास्त्र की नींव रक्खी गई है।

६—भरत, वृद्धभरत और आदिभरत

नाट्यशास्त्र की हस्तलिखित प्रतियों में कुछ अपेक्षाकृत छोटी हैं और कुछ बड़ी हैं। अभिनव भारती सहित नाट्यशास्त्र के सम्पादक श्री रामकृष्णकवि ने लगभग ४० हस्तलिखित पुस्तकों का परीक्षण किया है। प्रश्न यह है कि मूलनाट्यशास्त्र संक्षिप्त हस्तलिखित प्रतियों में सुरक्षित है अथवा बड़ी हस्तलिखित प्रतियों में। यमलाष्टकतंत्र के साक्ष्य के अनुसार उपवेद गांधर्व में ३६००० श्लोक थे। शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन में लिखा है कि भरतों ने नाट्यवेद के दो संक्षिप्तसार बनाये एक १२००० श्लोकों में तथा दूसरा ६००० श्लोकों में। इन षट्साहस्त्री और द्वादशसाहस्त्री नाट्य-संहिताओं का उल्लेख बहुरूप मिश्र ने अपनी दशरूपक की टीका में भी किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में राघवभट्ट ने भरत और आदिभरत दोनों के ही उद्धरण दिये हैं। भाण्डारकर प्राच्यसंस्थान में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों में एक पुस्तक है जिसका नाम नाट्यसर्वस्वदीपिका है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह आदिभरत की टीका है। इसके अनुसार आदिभरत में ५स्कन्ध, ३२ अध्याय और २२१ प्रकरण थे। आदिभरत की श्लोक-संख्या ६००० थी।

यह कहना कठिन है कि आदिभरत और भरत में किसकी संहिता अधिक प्राचीन है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपनी टीका अभिनव-भारती छोटी सहिता पर रची थी। दशरूपककार ने इसी छोटी पुस्तक का उपयोग किया था। पर भोज ने बड़ी संहिता को आधार बनाया था। इस प्रकार के बृहत् और लघु पाठों की परम्परा प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः पाई जाती है, विशेषकर ऐसे ग्रन्थों के सम्बन्ध में जो अधिक विख्यात हो गये हैं। प्रायेण देखने में ऐसा आया है कि आदि-,बृहत्-अथवा बृद्ध-विशेषण से युक्त ग्रंथ अपेक्षाकृत पीछे की रचना होता है। पर नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। श्रीरामकृष्णकवि महोदय के मतानुसार बृहत्पाठवाली संहिता ही अधिक प्राचीन है। श्री पं०युधिष्ठिर मीमांसक के मत में भारतीय साहित्य में प्राचीनतर ग्रन्थ प्रायेण विस्तृततर हैं। नाट्यशास्त्र में सूत्र, भाष्य और कारिका तीनों ही सम्मिलित हैं तथा अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र को भरतसूत्र भी कहा है। प्रकाशित संस्करणों में श्लोकों की संख्या ६००० से कम है। गद्यभाग मिलाकर संभव है कि यह संख्या पूरी हो जाय।

७—नाट्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य की परम्परा

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि प्राचीनकाल में भी भरत के नाट्यशास्त्र से पूर्व नाट्यसम्बन्धी अन्य रचनाएँ नही रहीं होंगी। स्वयं भरत-मुनि ने ही नाट्यवेद का रचयिता ब्रह्मा जी को माना है। कैशिकी वृत्ति को शिव परिवार अथवा विष्णु भगवान् से उपलब्ध हुआ माना है। गान्धर्ववेद के प्रवर्त्तकों के रूप में स्वाति और नारद का अनेक बार उल्लेख किया है। इसी प्रकार नाट्य, अभिनय और संगीत का जो समृद्ध रूप प्रस्तुत नाट्यशास्त्र में मिलता है उसका विकास कदापि एक व्यक्ति के मस्तिष्क से नहीं हो सकता। वर्त्तमान नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व बहुत से नाटकों और नाट्यसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि

नाव्यशास्त्र के रचयिता की लोक प्रमाण पर अत्यधिक आस्था थी। यों कहने को तो उसने नाव्यशास्त्र के लिए लोक, वेद और अध्यात्म तीन प्रमाणों को गिनाया है पर अन्त में उससे यह कहे बिना न रहा गया कि "तस्माल्लोकप्रमाणं हि ज्ञेयं नाव्यम्।" इसके अतिरिक्त नाव्यशास्त्र के अन्तिम श्लोक में—भरतवाक्य में—उसने अत्यन्त उदारता के साथ भावी विद्वानों के लिए भी यह छूट दे दी कि "न प्रोक्तं यच्च लोकादनुकृतिकरणं तच्च कार्यं विधिज्ञैः" अर्थात् "नाव्य की विधि के ज्ञाताओं के द्वारा जो अनुकृतिकरण यहाँ नहीं कहा गया है उसको भी लोक (प्रमाण के आधर) से ग्रहण कर लिया जाना चाहिए।" परन्तु क्योंकि कोई नाव्य-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ इससे पहले का उपलब्ध नहीं है अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि भरतमुनि ने कहाँ से क्या लिया।

- भारतीय साहित्य में नटों के संबंध में प्रथम उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३। ११० तथा कर्मन्दकृशाश्वादिनि ४।३।१११ इन दो सूत्रों से पता चलता है कि शिलालिन् और कृशाश्व नटसूत्रों से प्रवर्त्तक थे। इन नटसूत्रों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। हो सकता है कि इन सूत्रों में नाव्य-शास्त्र सम्बन्धी तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया हो और यह भी संभव है कि इनमें केवल नटों की कलाबाजी ही की चर्चा रही हो। पर प्रथम विकल्प ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि कलाबाजी के लिए निर्मित नटसूत्रों से गोत्र के चल पड़ने की सम्भावना ठीक नहीं लगती।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में अनेकों भरत-पुत्रों के नाम आए हैं। संभव है कि इनमें से कुछ नाम काल्पनिक हों; पर कुछ नाम ऐसे भी हैं जिनकी रचनाओं के विषय में पश्चात्कालीन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। इनमें से कोहल, दत्तिल, शाण्डिल्य, वात्स्य, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट और बादरि के विषय में हम पहले लिख आये हैं। भरत-पुत्रों में एक नाम शालिकर्ण भी है। इसका एक रूपान्तर शातकर्णी भी है। इस नाम के राजाओं के अनेक उत्कीर्ण लेख मिले हैं। कालिदास के रघुवंश के त्रयो-

दश सर्ग के ३९-४० श्लोकों में एक शातकर्णि मुनि का उल्लेख है जो इन्द्र के द्वारा भेजी अप्सराओं के जाल में फँस गये थे और उनके स्थान से संगीत की ध्वनि आकाश में पुष्पक विमान तक पहुँच रही थी। संभव है कि यही शातकर्णि नाट्यविद्या में निपुण रहे हों।

नाट्यशास्त्रके पीछे भी इस विषय की अन्य रचनाएँ बहुत समय तक उपलब्ध नहीं होती। पर जब अन्य रचनाएँ उपलब्ध होने लगती हैं तो उनमें ऐसे अनेकों ग्रन्थकारों के नाम मिलते हैं जो नाट्यशास्त्र की रचना के पश्चात हुए हैं। हम यहाँ संक्षेप में प्रथम उन नामों का उल्लेख करेंगे जिनकी रचना तो नहीं मिलती पर जिनके उद्धरण अथवा उल्लेख पश्चात् कालीन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् उन लेखकों का परिचय देंगे जिनकी रचनाएँ इस समय भी मिलती हैं।

सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोश नामक ग्रन्थ में, चारायण, कात्यायन, राहुल, गर्ग, हर्ष (अथवा हर्षविक्रम) तथा मातृगुप्त का उल्लेख मिलता है और उद्धरण भी। हर्ष केविषय में ऐसा कहा जाता है कि वह नाट्यशास्त्र के वार्त्तिककार थे। मातृगुप्त को कोई नाट्यशास्त्र का टीकाकार और दूसरे स्वतंत्र लेखक मानते हैं। अभिनवगुप्त-पादाचार्य की विशाल टीका अभिनव भारती में भी नन्दिकेश्वर, तुम्बरु, विशाखिल एवं सदाशिव की रचनाओं की ओर संकेत मिलते हैं; शकलीगर्भ, तथा थंटक का उल्लेख मिलता है, तथा कात्यायन, राहुल एवं वार्त्तिककार हर्ष की रचनाओं के उद्धरण प्राप्त होते हैं। भरतमुनि के रससूत्र ("विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः") की व्याख्या के प्रसंग में अभिनव गुप्त ने, भट्टशंकुक, भट्टनायक एवं लोल्लट के मतों का सविस्तर उल्लेख किया है। इनमें से भट्ट लोल्लट और शङ्कुक नाट्यशास्त्र के टीकाकार प्रतीत होते हैं। शारदातनय के भाव-प्रकाशन नामक ग्रन्थ में नन्दिकेश्वर, सदाशिव, पद्मभू, व्यास, द्रौहिणि, आञ्जनेय इत्यादि नाट्याचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। पता नहीं कि इनमें से कौन कौन महानुभाव वास्तव में नाट्यशास्त्र के विषय कुछ लिख गये हैं। रसरत्नप्रदीपिका

में नन्दिकेश्वर के नाट्यार्णव नामक ग्रंथ का उद्धरण प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार रूय्यक की नाटक मीमांसा, नाटक प्रकाश, मोहनदास के नाटकावतार का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में मिलता है।

नाट्यशास्त्र पर जो अन्य ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध हैं उनमें से निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हैं :—(१) सागरनंदिन् का नाटकलक्षण रत्नकोश आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रेस से प्रकाशित हो चुका है। इसमें अनेकों नाटकों और नाट्यशास्त्र संबंधी लेखकों का उल्लेख है। मुख्यतया इसका आधार भरत-मुनि का नाट्यशास्त्र ही है। (२) धनञ्जय का दशरूपक और सागरनन्दिन् का नाटकलक्षणरत्नकोश दोनों ही थोड़े ही आगे-पीछे की रचनाएँ हैं। दशरूपककार ने स्पष्टतया नाट्यशास्त्र का ऋण स्वीकार किया है। इसमें नाट्यशास्त्र के साहित्यपक्ष का ही विवेचन मुख्य रूप से हुआ। अभिनय एवं संगीतपक्ष का विवरण इसमें नहीं है। इस पर धनिक की टीका प्रकाशित हो चुकी है। धनञ्जय मुञ्जमहीप की गोष्ठी में रहते थे अतएव इनका समय दसवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध हो सकता है। उपर्युक्त टीका के अतिरिक्त और भी अनेक टीकाएँ इस ग्रंथ पर लिखी गई थीं पर प्रकाशित नहीं हुई हैं। धनिक की टीका का नाम अवलोक है और इस अवलोक पर भी एकाधिक टीकाएँ रची गई हैं। नाट्यशास्त्र के प्रकरण ग्रंथों में इसकी ख्याति सबसे अधिक है। देश-विदेश में यह ग्रंथ अनेकों बार प्रकाशित हो चुका है। (३) रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा विरचित नाटकदर्पण नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में दशरूपक की अपेक्षा कुछ बड़ा ग्रन्थ है। रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों ही सुविख्यात जैन महापुरुष हेमचन्द्राचार्य के शिष्य थे और इनका समय बारहवीं शताब्दी है। इसमें बारह प्रकार के रूपकों और अनेकों उपरूपकों का निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज में प्रकाशित हो चुका है। दोनों लेखकों ने एक वृत्ति भी ग्रन्थ के साथ सम्मिलित कर दी है। इस ग्रन्थ का आधार भी नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती ही है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ गया है कि इसमें ऐतिहासिकनाटक-

देवीचन्द्रगुप्तम् के उद्धरण मिलते हैं। (४) शारदातनय का भावप्रकाशन ग्रन्थ प्रकाशित ग्रंथों में आकार में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के समान है। इसमें भी नाट्य सम्बन्धी सभी विषयों का समावेश है। गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में इसका प्रकाशन हो चुका है। यह ग्रन्थ भी श्लोकबद्ध है। इसमें दश प्रकरणों में रूपकों और उपरूपकों के स्वरूप का सोदाहरण निरूपण किया गया है। यह १२वीं और १३वीं शताब्दी के मध्य की रचना है। इसमें बहुत से ऐसे नाटकों का नाम मिलता है जो अब अनुपलब्ध हैं। इसकी टीका भी लिखी गई थी पर प्रकाशित नहीं हुई है। सम्भवतया इस ग्रन्थ का महत्त्व नाट्यशास्त्र के पश्चात् सबसे अधिक है। (५) शिङ्गभूपाल के दो ग्रन्थों में नाटक का विवेचन किया है। नाटकपरिभाषा में तो नाटक का ही विषय वर्णित है। पर इस ग्रन्थ की अधिक ख्याति नहीं है और वह प्रकाश में भी नहीं आया है। यह ग्रन्थ पद्य में है। शिङ्गभूपाल का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है। (६) रूपगोस्वामी की नाटकचन्द्रिका भरत के नाट्यशास्त्र और शिङ्गभूपाल के रसार्णवसुधाकर के आधार पर रची गई है। इसमें उदाहरण वैष्णव ग्रंथों से लिये गये हैं।

कुछ ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनमें समग्र साहित्यशास्त्र का विवेचन किया गया है और उसी के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र के विषय को भी ले लिया गया है। (१) राजा भोज का शृंगारप्रकाश अभी सामग्र्येण प्रकाशित नहीं हुआ है पर भारतीय साहित्य में यह सबसे अधिक विशाल ग्रंथ है। यह ३६ प्रकाशों में विभक्त है जिनमें से २६वाँ प्रकाश मिलता ही नहीं। १२वें प्रकाश में नाटकों का वर्णन हुआ है। (२) इन्हीं राजाभोज के सरस्वतीकण्ठाभरण के पाँचवें परिच्छेद में भी नाटक सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। (३) विद्यानाथकृत प्रतापरुद्रयशोभूषण की रचना १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में हुई होगी। इसके सभी उदाहरण काकतीयवंश के राजा प्रतापरुद्रदेव के गुणों की प्रशंसा में रचे गये हैं। इसमें ६ प्रकरण हैं। नाटक के स्वरूप का विवे-

चन ३२ वे प्रकरण में किया है और लक्षणों के उदाहरणस्वरूप प्रतापरुद्रकल्याण नामक एक नाटक भी विद्यानाथ ने रच दिया है। (४) कविवर विश्वनाथ का साहित्यदर्पण संस्कृत साहित्य में अत्यधिक सम्मानित ग्रंथ है। पाठ्य ग्रंथ के रूप में इसका प्रचलन सर्वत्र है। इसके छठे परिच्छेद में नाटक का विषय वर्णित है। विश्वनाथ का समय १४वीं शताब्दी है। (५) शिङ्गभूपाल के रसार्णवसुधाकार के अन्तिम भाग में भी नाटक का विषय प्रतिपादित है। अन्तिम तीनों ग्रन्थ १४वीं शताब्दी में थोड़े आगे-पीछे रचे गये थे।

इन ग्रन्थों के संक्षिप्त परिचय से इतना तो अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत भाषा में नाट्यविषय पर विशाल साहित्य की रचना हुई थी। पर नाट्यशास्त्र के पश्चात् के जितने भी ग्रंथ हैं वे सब नाट्यशास्त्र पर आश्रित हैं। पिछले ग्रन्थों की उपयोगिता उनके उदाहरणों में हैं जिससे यह पता चलता है कि संस्कृत-साहित्य में निरन्तर नाटकों की रचना होती रही है। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे ग्रन्थों का नामोल्लेख भी इन ग्रंथों में मिलता है जिनकी उपलब्धि अब नहीं होती।

८—नाट्य की उत्पत्ति

गीता के अनुसार भूतों की उत्पत्ति और समाप्ति अव्यक्त ही रहती है; केवल मध्यव्यक्त रहता है :—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ भ. गी. २।२८

अतएव, यद्यपि प्रायः साहित्य के सभी अङ्गों की उत्पत्ति का विवेचन अवश्य किया जाता है, और किया जाना चाहिए, तथापि आजतक इस विषय में भ्रान्ति का पूर्ण निराकरण एवं ऐकमत्य का स्थापन नहीं हो सका है एवं इसमें भी बहुत कुछ सन्देह है कि निकट भविष्य में ऐसा हो सकेगा। नाटक की उत्पत्ति के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है। अनेकों मनीषियों ने इस समस्या पर विचार किया है और अपने अपने

विभिन्न मतों की स्थापना की है। यहाँ भी इस विषय में संक्षेप में विचार किया जाएगा।

नाटक की उत्पत्ति के विषय में सबसे प्राचीन मत नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में उपलब्ध होता है। इस अध्याय का नाम ही 'नाट्योंत्पत्ति'' है। प्राचीन काल में कृतयुग में स्वायंभुवमन्वन्तर की समाप्ति के पश्चात् त्रेतायुग में वैवस्वतमन्वन्तर के आरम्भ हो जाने पर जब संसार के सुख के साथ दुःख भी प्रविष्ट हो गया तब महेन्द्र के साथ देवताओं ने ब्रह्मा जी के पास जाकर निवेदन किया कि हमको ऐसा क्रीडनीयक (खेल, तमाशा) चाहिये जो देखे और सुने जाने के योग्य हो। यह जो वेदव्यवहार है सो यह तो शूद्र जाति के मनुष्यों द्वारा सुना नहीं जा सकता अतएव आप एक अपर वेद की रचना कीजिये जो सब वर्णों के काम का हो। ब्रह्मा जी ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करके योगस्थिति में स्थित होकर चारों वेदों को स्मरण किया और यह संकल्प किया कि मैं ऐसे पाँचवें वेद की रचना करता हूँ जो धर्मानुकूल, यशस्य, संग्रह और उपदेश सहित होगा, भावी जगत के लिये सब कर्मों का पथप्रदर्शक, सब शास्त्रों के अर्थ से सम्पन्न तथा सब शिल्पकलाओं का प्रदर्शक होगा। यह नाट्यवेद चारों वेदों के अङ्गों से निर्मित हुआ। इसके लिये ब्रह्मा जी ने पाठ्य भाग को ऋग्वेद से, गीतों को सामवेद से, अभिनयों को यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया।

इस प्रकार पंचम वेद की सृष्टि करके ब्रह्मा जी ने इन्द्र से कहा कि मैंने इतिहास की रचना कर दी। जो देवता चतुर और परिश्रमी हों उनके द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिये। इंद्र ने कहा देवता नाट्यकर्म में अक्षम हैं। तब ब्रह्मा जी ने भरत मुनि को उनके सौ पुत्रों के सहित इस कार्य के लिये नियुक्त किया। भरत मुनि ने प्रथमतः भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों से युक्त अभिनय का तैयारी की, पर जब ब्रह्मा जी ने कैशिकी वृत्ति की योजना की आवश्यकता बतलाई तो भरत मुनि ने अप्सराओं की माँग की। ब्रह्मा जी ने कैशिकी वृत्ति के लिये

उपयुक्त अप्सराएँ भरत मुनि को प्रदान की। गायन के कार्य के लिये नारदादि गन्धर्वों की योजना की गई। इतनी तैयारी के पश्चात् इन्द्र-ध्वज के उत्सव के समय सुरविजय नाटक का अभिनय किया गया। देवताओं ने अभिनय से प्रसन्न होकर भरत मुनि और उनके पुत्रों को अनेकों उपहार प्रदान किये। परन्तु क्योंकि इस नाटक में दानवों की पराजय प्रदर्शित की गई थी। अतएव उन्होंने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की और अभिनय में विघ्न उत्पन्न करने आरम्भ कर दिये। इस पर इन्द्र ने क्रुद्ध होकर ध्वज को लेकर उसकी मार से असुरों के शरीरों को जर्जर (क्षत-विक्षत) कर दिया। इस प्रकार ध्वज से ही जर्जर की उत्पत्ति हुई। पर विघ्न फिर भी बने ही रहे। तब ब्रह्माजी ने विश्वकर्मा को नाट्य-गृह बनाने का आदेश किया। विश्वकर्मा ने नाट्यवेश्म की रचना की और उसमें नाटक की रक्षा करने के लिये सब देवता यथास्थान नियुक्त कर दिये गये।

इस प्रकार नाटक की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा जी ने इसके इतिहास की सृष्टि की; शिव और शिवा ने इसमें ताण्डव और लास्य की क्रमशः योजना की और विष्णु भगवान् ने चारों वृत्तियाँ प्रदान कीं। नाट्यशास्त्र (अथवा नाट्यवेद) के अनुसार नाटक की उत्पत्ति की संक्षिप्त कथा यही है। पर यदि बीसवीं शताब्दी का पाठक इस कथा का विश्वास करेगा तो पौराणिक नहीं तो मध्यकालीन अवश्य कहलाएगा। अतएव हमको नाटक की उत्पत्ति की कथा का २० वीं शताब्दी वाला संस्करण चाहिये जिस पर यूरोप के विद्वानों की साक्ष्य की मुहर लगी हो।

विज्ञान इस बात से सहमत नहीं हो सकता कि नाटक की उत्पत्ति इस प्रकार से ब्रह्मा के संकल्प-मात्र से अल्पकाल में हुई थी। नाट्यशास्त्र में जिन विस्तृत, सूक्ष्म, जटिल और सर्वाङ्गीण सिद्धांतों का विवेचन हुआ है उनके विकास में सहस्राब्दियों की नहीं तो शताब्दियों की आवश्यकता अवश्य हुई होगी। आरंभ में नाटक का स्वरूप बहुत कुछ अस्पष्ट और अव्यवस्थित रहा होगा। गीता ने बतलाया भी है

"सर्वारम्भाः ही दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" (अर्थात् जिस प्रकार आरंभ में अग्नि धुएँ से ढकी रहती है इसी प्रकार अन्य सब कार्यों के आरम्भ भी अस्पष्टता अथवा अव्यक्तता से अच्छादित रहते हैं)। अतएव हम विकासवाद के सिद्धान्त का आश्रय लेकर नाटक की धूमावृत अथवा अव्यक्त अवस्था के अधिकाधिक समीप पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

अरिस्तू के मतानुसार किसी भी पदार्थ का स्वरूप हमको उसके पूर्णतया विकसित होने पर ही ज्ञात हो सकता है। पूर्णतया विकसित रूप के घटक तत्त्वों का अन्वेषण करते हुए हम उस पदार्थ के प्रारंभिक स्वरूप का भी पता लगा सकते हैं और उसकी उत्पत्ति को भी खोज सकते हैं। अब यदि हम संस्कृत नाटक के पूर्ण विकसित रूप को लें तो हमको उसमें नृत्य, गीत, अभिनय और संवाद यह तत्त्व प्रधानतया दृष्टि गोचर होते हैं। यह सब तत्त्व किसी स्थायी अथवा यदृच्छया स्वल्प-कालिक रङ्गमंच पर प्रदर्शित किये जाते थे। किसी न किसी परम्परागत अथवा कल्पित कथा की अनुकृति नाटक में प्रदर्शित की जाती थी। अतएव इन्हीं तत्त्वों की खोज हमको भारतीय साहित्य और जीवन में करनी चाहिये और इस बात को यथासंभव खोज निकालना चाहिये कि किस समय इन सब तत्त्वों के संगम से नाटक का निर्माण हुआ।

भारतीय साहित्य में प्रायः सभी बातों का मूल वेदों में खोजने की प्रवृत्ति रही है। और यह कोई अनोखी अथवा गर्हणीय बात नहीं है, क्योंकि वेद भारतीय साहित्य की प्राचीनतम निधि हैं। अतएव विद्वज्जनों ने भारतीय नाटक का उद्गम भी वेदों में (विशेष कर ऋग्वेद में) खोजने की चेष्टा की है। इस चेष्टा का प्रेरक नाट्यशास्त्र ही है क्योंकि नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि नाटक का निर्माण करते समय ब्रह्मा जी ने पाठ्य विषय को ऋग्वेद से ग्रहण किया (जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदत्। नाट्य शा० १।१७)। इस सङ्केत के आधार पर विद्वानों ने ऋग्वेद की छानबीन करके निम्नलिखित १८ सूक्तों की तालिका प्रस्तुत की है जिनमें १९ सम्वाद तथा २ स्वगत कथन हैं।

क्रम-संख्या	मंडल	सूक्त	प्रतीक	संवाद के पात्र	मंत्र संख्या
१	१	२४	कस्य नूनम्	आजीगर्ति शुनःशेप का स्वगत कथन	१५
२	१	१६५	कया शुभा	इंद्र, मरुत् और अगस्त्य	१५
३	१	१७०	न नूनमस्ति	,, ,, ,,	५
४	१	१७९	पूर्वीरहम्	अगस्त्य और लोपामुद्रा	६
५	३	३३	प्र पर्वतानाम्	विपाश् और शुतुद्री नदियाँ तथा विश्वामित्र ऋषि	१३
६	४	१८	अयं पन्था	इंद्र अदिति और वामदेव	१३
७	४	४२	मम द्विता राष्ट्रम्	इंद्र और वरुण	१०
८	७	३३	श्वियञ्चो मा	वशिष्ट, उनके पुत्र और इंद्र	१४
९	८	१००	अयं त एमि	इंद्र तथा वाक्	१२
१०	१०	१०	ओ चित् सखायम्	यम तथा यमी	१४
११	१०	२७,२८	असत् सु मे विश्वो ह्यन्यो	इंद्र, वसुक्र तथा वसुक्र पत्नी	२४ १२
१२	१०	५१	महत् तदुल्बम्	अग्नि वरुण तथा देवगण	९
१३	१०	५२	विश्वे देवाः	अग्नि तथा ऋषि	६
१४	१०	५३	यमैच्छाम मनसा	पुरोहित और अग्नि	११
१५	१०	८६	वि हि सोतोरसृक्षत	इंद्र इंद्राणी तथा वृषाकपि	२३
१६	१०	९५	हये जायेमनसा	पुरुरवा और उर्वशी	१८
१७	१०	११९	इति वा इति में मनो	इंद्र अथवा सोमरस से छके हुए किसी व्यक्ति का स्वगत कथन	१३

इन सूक्तों में प्रथम और अन्तिम दो स्वगत कथन हैं और शेष १६ सूक्त दो-तीन अथवा अधिक व्यक्तियों के संवाद हैं। इनमें कुल मिलाकर २३३ मंत्र हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सबसे अधिक (६) संवाद सूक्त दशम मण्डल में हैं, उससे कम (४) प्रथम मण्डल में हैं, चौथे मण्डल में इनकी संख्या २ है तथा सातवें और आठवें मण्डल में केवल एक-एक सूक्त उपलब्ध होता है। पाँचवें और नवें मण्डलों में संवाद सूक्तों का अभाव है। आधुनिक भाषा-शास्त्र के अनुसार ऋग्वेद का जो अध्ययन यूरोपीय विद्वानों ने किया है उसके परिणामस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऋग्वेद के प्रथम और अंतिम मण्डलों की सामग्री अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। यदि यह निष्कर्ष निराधार नहीं है तो यह मानना होगा कि यद्यपि संवाद सूक्तों का सूत्रपात अत्यन्त प्राचीन काल में हो चुका था तथापि उनका प्रचलन ऋग्वेद के अंतिम काल की ओर अधिक बढ़ता गया। अथर्ववेद के पाँचवें कांड का ११वाँ सूक्त भी प्रश्नोत्तर रूप ही है। इसमें ११ मन्त्र हैं। ऋग्वेद के यूरोपीय संपादक मैक्समूलर से लेकर अंतिम अनुवादक गैल्ड्नर तक ने इन सूक्तों के महत्त्व को स्वीकार किया है और वैदिक कर्म कांड के लिये तो यह आरम्भ से ही समस्यारूप रहे हैं, क्योंकि कर्मकांड में इनका कोई उपयोग नहीं हो सकता। इनमें से एकाधिक सूक्त ऐसे हैं कि जिनके सङ्केत आगे चलकर पुराणों में अत्यन्त रोचक कथाओं के रूप में पल्लवित हुए। उर्वशी और पुरुरवा की कथा तो आगे चलकर महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय नामक नाटक का आधार बनी। गैल्डनर ने अपने जर्मन अनुवाद में इनमें से अधिकांश सूक्तों की विस्तृत भूमिकाएँ लिखकर इनके महत्त्व का उद्घाटन किया है।

प्रस्तुत प्रश्न यह है कि क्या इन सूक्तों को भारतीय नाटक का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है? नाट्यशास्त्र का यह कहना कि "ब्रह्माजी ने नाट्य की रचना करने में पाठ्य को ऋग्वेद से ग्रहण किया" इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है। मैक्समूलर का कथन भी यही है

कि यह सूक्त यज्ञों में तत्तद्देवताओं की स्तुतियों में पढ़े जाते थे अथवा दो दलों के द्वारा इनका अभिनय किया जाता था। फ्रेंच विद्वान् सिल्वाँ लेवी ने भी इसी मत का पोषण किया है और इसके समर्थन में यह भी बतलाया है कि वैदिक काल में संगीत और नृत्य कलाएँ पुरुषों और स्त्रियों में प्रचलित हो चुकीं थी। फिर नाटक संगीत, नृत्य और संवाद के सम्मिलन ही का तो नाम है। अतएव मानना चाहिए कि वैदिक काल के पुरोहित लोग देवताओं और ऋषियों की भूमिका धारण करके स्वर्गीय घटनाओं का अभिनय किया करते थे। प्रो० फॉन श्रेऑडर के मत के यह संवाद सूक्त वैदिक कालीन रहस्यात्मक नाटकों के अवशिष्ट चिह्न हैं। इसी प्रकार के धार्मिक और लौकिक नाटकों का प्रचलन भारतीय जन-समूह में अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा होगा। भारत में उसका कर्मकांड सम्बन्धी धार्मिक रूप थोड़े समय तक चालू रहकर समाप्त हो गया परन्तु लौकिक रूप सर्वसाधारण में यात्रा आदि के रूप में चिरकाल तक चलता रहा। इस रूप के विकास में विष्णु-कृष्ण और रुद्रशिव संबंधी मतों का योग भी सहायक हुआ एवं गंधर्वों और अप्सराओं का तो परम्परा प्राप्त संबंध तो इनमें रहा ही। डॉ० हर्टल ने एक और ही स्वतंत्र प्रकार से वैदिक संवाद सूक्तों को धार्मिक रहस्यमय नाटकों के बीजरूप होने का समर्थन किया है। पर उनकी स्थापना का मुख्य आधार यह मान्यता है कि वैदिक स्तुतियाँ सर्वदा गाई जाती थीं। संवाद सूक्तों में यदि गानेवालों की संख्या एकाधिक न हो तो अनेकों वक्ताओं के भेद को व्यक्त करना असंभव हो जाये। अतः यह सूक्त नाट्य-कला के उस आरंभिक रूप के नमूने हैं जिसकी तुलना गीतगोविन्द से की जा सकती है। हर्टल के मतानुसार यही रूप विकसित होकर सुपर्णाध्याय में वास्तविक नाटक का रूप प्राप्त कर लेता है। यही सिलसिला यात्राओं तक पहुँचता है। श्रेऑडर और हर्टल दोनो ही संवादसूक्तों को धार्मिक रहस्यात्मक नाटकों का अवशेष अथवा बीज रूप मानते हैं, पर श्रेऑडर लौकिक नाटक की धारा का प्रवाह वेद की धारा के बाहर

किन्तु समानान्तर मानता है पर हर्टल धार्मिक और लौकिक नाटकों के विकास को एक अविच्छिन्न धारा के रूप में मानता है।

इन विद्वानों के मत में यह वैदिक नाटक एक प्रकार के जादू-टौने के अनुष्ठान का रूप था जिसके फलस्वरूप भूमि अथवा स्त्रियों की उर्वरा-शक्ति की वृद्धि की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार की व्याख्या से इन सम्वादसूक्तों को वैदिक कर्मकाण्ड में अंतर्भुक्त किया जा सकता है। परंतु यह सब कल्पना-विलास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वैदिक साहित्य की अधिकृत तथा परम्परागत व्याख्या से इसका समर्थन नहीं होता।

प्रौ० विन्डिश्, ओल्डनूबर्ग तथा पिशल ने इस सूक्तों के उद्देश्य की एक दूसरी ही व्याख्या प्रस्तुत की। इन महानुभावों के मतानुसार यह सूक्त भारोपीय प्राचीन परम्परा के महाकाव्यों के ढङ्ग की रचनाएँ हैं जिनमें भावुकता के उच्च क्षणों की अभिव्यक्ति करनेवाला पद्य तो सुरक्षित रह गया है पर उसके साथ सन्नद्ध जो अव्यवस्थित रूपवाली गद्य की कड़ियाँ थीं वह लुप्त हो गई हैं। सुझाव यह हो सकता है कि इसी प्रकार के सूक्तों के व्यक्त पद्यात्मक रूप से आगे चलकर महाकाव्य (रामायण, महाभारत आदि का) विकास हुआ, एवं व्यक्त पद्यात्मक एवं अध्याहार्य गद्यात्मक रूप के संमिश्रण से गद्यपद्यात्मक संस्कृत नाटक का। पर यह कल्पना भी परम्परा के प्रतिकूल ही है। ऐतरेय ब्राह्मण का शुनःशेप का आख्यान जिसमें चरैवेतिवाले विख्यात श्लोक आते हैं तथा शतपथ-ब्राह्मण का पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान जो इस मत के समर्थन में उपस्थित किये जाते हैं वह इसका पूर्णतया समर्थन नहीं करते। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप की कथा में जो पद्य आते हैं वे संवादात्मक नहीं हैं उपदेशात्मक हैं और शतपथ ब्राह्मण में जो पुरुरवा की कथा है उसमें और ऋग्वेद के सूक्त में मेल नहीं बैठता।

यूरोपीय विद्वानों में ऋग्वेद के व्याख्याताओं और अनुवादकों में प्रौ० गैल्डनर का नाम अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। उसका ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद १९५१ में प्रकाशित हुआ है। गैल्डनर् एक

समय ओल्डनबर्ग के मत का पोषक था पर अंत में उसने इस मत को त्याग दिया। उसने इन सम्वाद सूक्तों में कुछ को केवल 'गीत' नाम दिया है, कुछ को सम्वाद और कुछ को वीरगीत (Ballade)। उसके मत में १०।२८ सूक्त प्राचीन भारतीय सम्वाद काव्य का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। [Es ist aber eine der besten Proben altindischer Dialogpoesie]. प्रो० कीथ ने इन सम्वादों के विषय में लिखा है कि हमको मानना पड़ेगा कि इन सूक्तों में हमको उस शैली की कविता का अवशेष उपलब्ध होता है जो उत्तर वैदिक काल के साहित्य में मृत्यु को प्राप्त हो गई।

पर वास्तविकता इसके विपरीत है। हम पहले कह चुके हैं कि ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डलों में—अर्थात् ऋग्वेद के अपेक्षाकृत अर्वाचीन अंश में—इस प्रकार की रचना अधिक दृष्टिगोचर होती है। यह बात भी स्पष्ट ही है कि इन सूक्तों का कर्मकाण्ड में कोई उपयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। अतएव जैसे-जैसे उत्तरकालीन वैदिक साहित्य अधिक कर्मकाण्डमय होता गया वैसे-वैसे उसमें इस प्रकार की रचनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। उपनिषत्काल में जब कर्मकाण्ड से विचारकों को विरति होने लगी तो पुनः वैदिक साहित्य में सम्वाद दृष्टिगोचर होने लगे; पर यह दार्शनिक सम्वाद थे साहित्यिक नहीं। दूसरी ओर जब हम नाट्यशास्त्र में वर्णित नाटक की उत्पत्ति की परम्परा पर दृष्टि डालते हैं तो हम उसमें ऐसा उल्लेख कहीं नहीं पाते कि ऋग्वेद में नाटक रखा हुआ था, सो ब्रह्माजी ने वहाँ से उसको उठा लिया। "जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्" का भाव यह है कि नाटक का एक उपयोगी तत्त्व "सम्वाद" ऋग्वेद में था उसको पंचमवेद "नाट्यवेद" में ग्रहण कर लिया गया। यह अङ्ग ऋग्वेदोत्तर काल में मर नहीं गया प्रत्युत "नाट्यवेद" की गोद में भली भाँति फला फूला। इस सीधी-सादी स्पष्ट बात को लेकर कितनी विद्वत्तापूर्ण धूल उड़ाई गई यह देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है।

इसी प्रकार प्रो० कीथ ने यद्यपि यजुर्वेद के कर्मकाण्ड में नाटक के

अस्तित्व का खंडन किया है पर उस कर्मकाण्ड में नाटकीय तत्त्व अर्थात् अभिनय तत्त्व की पर्याप्त मात्रा को स्वीकार किया है। महाव्रत और राज्याभिषेक के अनुष्ठानों में अभिनय तत्त्व भले ही हों पर उनको नाटक नहीं माना जा सकता। कीथ, हिलेब्राण्ट और कोनो के मत से सहमत नहीं है कि इन अनुष्ठानों में कर्मकाण्डपरक नाटक विद्यमान हैं। जहाँ यजुर्वेद में सभी पेशे के व्यक्तियों के नाम आये हैं, वहाँ नट के नाम का अभाव है, इससे कीथ इस निर्णय पर पहुँचता है कि यजुर्वेद काल में और यजुर्वेद में नाटक का अभाव था। शैलूष शब्द के अस्तित्व के कारण वह इस काल में नृत्य और गीत की सत्ता को मान लेता है और अभिनय तत्त्व को भी। हमारा विनम्र कथन यह है कि जब नाट्यशास्त्र यह कहता है कि ब्रह्माजी ने यजुर्वेद से अभिनयों का ग्रहण किया (यजुर्वेदादभिनयान्) तो वह भी तो इसी अकाट्य तथ्य की ओर सङ्केत करता है कि यजुर्वेद में अभिनय तत्त्व था और वहाँ से यह ग्रहण कर लिया गया। जहाँ तक सामवेद से सङ्गीत को ग्रहण करने की बात है उसके विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। अथर्ववेद से रसग्रहण की संगति भी इस प्रकार लगाई जा सकती है कि दो प्रमुख रस वीर और श्रृंगार अथर्ववेद में पर्याप्त मात्रा में वर्णित हुए हैं और अन्य रसों का भी उसमें अभाव नहीं है।

परंतु प्रो० कीथ का कहना है कि नाटकों की उत्पत्ति रामायण, महाभारतादि महाकाव्यों की कथाओं के प्रचलन के पश्चात् ही संभव हुई। किन्तु विचारणीय विषय यह है कि इन आख्यानों की कथाओं का विकास किस प्रकार से हुआ। ऋग्वेद के आख्यान सूक्तों का क्रमशः विकास होते होते आगे चलकर वह किस प्रकार एक स्वतंत्र साहित्यक्षेत्र के रूप में परिणत हो गये यह खोज का अत्यंत रोचक विषय है। श्री राय कृष्णदास के मत में तो वाल्मीकि अनुष्टुप् श्रुतियों और रामकथा दोनों के ही आदि ऋषि और कवि हैं। इस मत के अनुसार ऋग्वेद और रामायण, महाभारतादि आख्यान काव्यों में पौर्वापर्य नही यौगपद्य है।

भारतीय परम्परा इस मत का पूर्णतया समर्थन करती है। इसी कारण वाल्मीकि आदि कवि हैं और महाभारतकार व्यास वेदव्यास हैं।

वस्तु-स्थिति यह है कि आज जितना संस्कृत साहित्य उपलब्ध है वह समग्र साहित्य का एक अंश मात्र है। कितना साहित्य नष्ट हो गया इसका पता भी पूरी तरह से नहीं चल सकता। फिर भी आज भास के नाटक तो विद्यमान हैं ही। इनकी रचना ईसवी सन् के पूर्व ही हुई थी। इनके पूर्व किसी रूप में नाट्यशास्त्र का अस्तित्व था यह हम पहले बतला चुके हैं। नाट्यशास्त्र स्वयं लोकप्रमाण को सब प्रमाणों में सर्वोपरि मानता है। अतएव नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व अवश्य ही विस्तृत नाट्य साहित्य उपलब्ध रहा होगा। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध-साहित्य के उल्लेखों से इस साहित्य के अस्तित्व का समर्थन होता है। रामायण और महाभारत तथा बृहत्कथा न केवल नाटककारों के लिए स्वर्ण की खान बने रहे प्रत्युत इनमें अनेक स्थलों पर नाटक के अस्तित्व का सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है। पतञ्जलि के महाभाष्य में कंसवध और बलि-वध नामक नाटकों का उल्लेख मिलता है। इन साहित्यिक उल्लेखों के अतिरिक्त सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं में नाट्यशालाएँ मिली हैं उनका समय भी ई० पू० तीसरी शताब्दी के आस-पास का है। इससे अधिक ठोस प्रमाण भारतीय नाटक की प्राचीनता का और क्या हो सकता है?

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि अन्य सब वस्तुओं की भाँति भारतीय नाटक का आदि अव्यक्त है तथापि जिन तत्त्वों से नाटक की उत्पत्ति हुई वे वेदों में विद्यमान थे। इन्हीं तत्त्वों से कर्मकाण्ड के भीतर और बाहर नाटकों के अस्पष्ट बीजरूप का प्रादुर्भाव हुआ जो धीरे धीरे विकसित होते हुए उस पूर्णता को पहुँचा जिसको हम भास, अश्वघोष शूद्रक, कालिदास, हर्ष, भवभूति; भट्टनारायण इत्यादि की रचनाओं में प्रतिफलित हुआ देखते हैं तथा जिसका सैद्धान्तिक रूप हमको भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। पाणिनि और बौद्ध

साहित्य के साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि नाटक के स्वरूप का निखार ई० पू० ६ शताब्दी में हो चुका था।

यहाँ इस विषय का भी उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय नाटक की उत्पत्ति कठपुतलियों के नाच से भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। सूत्रधार और स्थापक जैसे शब्दों की बल्ली लगाकर इन्होंने अपनी कल्पना का भवन खड़ा किया है। पर वास्तव में सूत्रधार शब्द का प्रयोग तो मुख्य अभिनेता के लिये होता है और वास्तुशास्त्र में भी वास्तुनिर्माण के आरम्भ में सूत्रधारण विधि का उल्लेख पाया जाता है। फिर कठपुतलियों का खेल प्रायः बच्चों के मनबहलाव के लिये प्रचलित हुआ है। इसका प्रचलन स्वयं नाटक के अनुकरण पर हुआ है न कि नाटक की उत्पत्ति इसके अनुकरण पर हुई है। यही बात समधिक रूप में प्रो० ल्यूडर्स के छाया-नाटक से नाटक की उत्पत्ति के विषय में भी लागू होती है। वास्तव में यह बात आजतक भली भाँति स्पष्ट नहीं हो सकी है कि छायानाटक अथवा छायानाट्य का स्वरूप क्या था। दूताङ्गद तथा धर्माभ्युदय इत्यादि जिन नाटकों को इस कोटि का बतलाया गया है उनसे भी इसका रूप स्पष्ट नहीं हो पाता। सम्भवतया छायानाट्य में झीनी यवनिका के पीछे पुतलियों अथवा मूक व्यक्तियों के द्वारा अभिनय हुआ करता था। पर ऐसे नाटकों का महत्त्व भी नाटकों की उत्पत्ति के पश्चात् हुआ होगा न कि इनके कारण, वास्तविक नाटकों की उत्पत्ति हुई होगी।

क्या विदेशी प्रभाव से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति हुई ?

पिछली पीढ़ी के विख्यात जर्मन विद्वान् वेबर ने यह विचार प्रस्तुत किया था कि भारत को नाटक रचना की प्रेरणा और स्फूर्ति यूनानी सम्पर्क से प्राप्त हुई होगी। पर पीछे वह केवल इतना ही मानने लगा था कि भारतीय नाटक पर ग्रीक नाटक का थोड़ा प्रभाव पड़ा था न कि उसकी उत्पत्ति ही ग्रीक नाटक के फलस्वरूप हुई थी। परंतु प्रो०

विंडिश ने यूनानी प्रभाव के सिद्धांत को पुनः प्रबलता के साथ स्थापित करने का प्रयास किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि अलक्जैण्डर के अभियान के पश्चात् लगभग तीन चार शताब्दियों तक पश्चिमोत्तर भारत में भारतीय लोगों का यवनों से सम्पर्क रहा। प्रो० वेर्नर याएगर ने अपनी अरिस्तौतिली के विकास की पुस्तक में भारतीय विद्वानों का यूनान में पहुँचना और भी पहले दिखलाया है। प्रो० उर्विक ने प्लातोन की रिपब्लिक नामक पुस्तक में भारतीय सिद्धान्तों का प्रभाव सिद्ध किया है। अतएव भारत और यूनान का सम्पर्क तो अवश्य ही पर्याप्त रूपेण पुराना है। पर देखना यह है कि क्या इसके कारण भारतीय नाटक की उत्पत्ति यूनानी नाटक के प्रभाव के कारण मानना अथवा भारतीय नाटक पर यूनानी नाटक प्रभाव मानना उचित है।

इस समस्या का एक पक्ष यह है कि जिन यूरोपीय विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया वे यूनानी भाषा के भी जानकर थे। पर भारतीय विद्वानों में ग्रीक भाषा के जाननेवाले नहीं के बराबर हैं। इस कारण आज तक भारत और यूनान के संबंध का अध्ययन भारतीय दृष्टि-कोण से नहीं हो पाया है। जहाँ तक यूनानी नाटकों का संम्बंध है प्राचीन काल में उनकी संख्या बहुत अधिक थी। अब उनमें से केवल ४७ नाटक अवशिष्ट रह गये हैं। दुःखांत (त्रागेदी) नाटकों में अएस्कि-लस् के ७, सौफ़ौक्लीस के ७ और यूरीपिदीस के १८ नाटक शेष हैं। सुखांत (कौमेदी) नाटकों में अरिस्तौफ़नीस् के ११ और मेनांदर के २ नाटक बच रहे हैं। जब अलक्जैण्डर ने भारत पर आक्रमण किया था तो उस समय यूनानी नाटक स्वर्णयुग समाप्त हो चुका था। कहा जाता है कि उसके साथ अभिनेता मण्डली भी थी। पर भारतीय अभियान में भाग्य ने अलक्जैण्डर का साथ छोड़ दिया। अतएव उसको और उसके साथियों को सांस्कृतिक प्रभाव फैलाने की अपेक्षा घर लौटने की चिंता रही। जो लोग शासकों के रूप में पीछे रह गये उनका संबंध मातृभूमि से उतना घनिष्ट नहीं रह गया जितना कि

जीवित सांस्कृतिक प्रभाव के लिये आवश्यक है। अतएव धीरे धीरे यह सब यवन भारतीय संस्कृति और धर्म में विलीन हो गये। उनका यह विलीन होना एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य है। तो इस विलय से किस प्रभाव की प्रबलतरता सिद्ध होती है? उत्तर इतना स्पष्ट है कि उसको शब्दों में प्रकट करना व्यर्थ है।

जहाँ तक भारतीय नाटक पर यूनानी नाटक के प्रभाव का विषय है यह इतना स्पष्ट है कि यदि किसी एक संस्कृत नाटक और किसी एक यूनानी नाटक को एक सामान्य भाषा में अनुवादित करके किसी साधारण सूझ-बूझ के व्यक्ति के सामने रख दिया जाय तो वह निःसंदेह यही कहेगा कि इन दोनों की दुनिया इतनी अलग है प्रभाव का लवलेश भी नहीं है। भारतीय नाटक का पुराने से पुराना उदाहरण भी अङ्कों में विभक्त होता है। यूनानी नाटक में अङ्कों का विभाजन नहीं है; त्रागेदी और कौमेदी की संघटना के सिद्धांत एक दूसरे से पृथक् हैं। संस्कृत नाटक में त्रागेदी जैसा कोई रूप अथवा उपरूपक नहीं है। यूनानी नाटक का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग कोरस है; संस्कृत नाटक में इसके जोड़ की कोई वस्तु नहीं है। यूनानी नाटकों का रङ्गमंच खुले आकाश के नीचे एक वेदिका मात्र होता था, जब कि भारतीय नाट्यशास्त्र में नाट्यशाला का विस्तृत निरूपण किया गया है।

यूनानी नाटक के प्रभाव का निरूपण जिन सज्जनों ने किया है उन्होंने अपनी कल्पना को 'यवनिका' शब्द की बल्ली का सहारा दिया है। पर खेद का विषय है कि यह शब्द तो यवनिका अथवा पर्दे के कपड़े को सूचित करता है और यह पर्दा यूनानी नाटक के रंगमंच पर तो होता नहीं था न जाने इन मनीषियों की बुद्धि पर कहाँ से आ पड़ा। अतएव यहीं मानना पड़ता है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति और उत्क्रांति दोनों स्वतंत्रतया भारतीय हैं।

१०—भारतीय-रङ्गमञ्च

नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में रंग अथवा नाट्यगृह का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उसी का संक्षिप्त रूप यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। नाट्यवेश्म तीन प्रकार का होता है। प्रथम नाट्यगृह देवताओं के लिये है जिसकी लम्बाई १०८ हाथ (२ हाथ = १ गज = ३ फीट) होती थी। दूसरा नाट्यगृह ६४ हाथ लम्बा और ३२ हाथ चौड़ा होता था। यह आयताकार होता था। तीसरा ३२ हाथ लम्बा होता था। त्र्यस्र प्रकार के नाट्यगृह भी होते थे। दूसरे प्रकार के नाट्यगृह का ही वर्णन नाट्यशास्त्र में आदर्श मान कर अधिक विस्तार के साथ किया गया है। इसमें समग्र भूमि को दो भागो में बाँट दिया जाता था जिसमें से एक भाग दर्शकों के बैठने के लिये होता था। यहाँ पर श्वेत स्तम्भ के पास ब्राह्मण बैठते थे। यह श्वेत स्तम्भ रंगमञ्च के सामने होता था। इसके थोड़ी दूरी पर क्षत्रियों के बैठने का स्थान सूचित करने के लिए रक्तवर्णा स्तम्भ होता था। उत्तर पश्चिम दिशा में पीतवर्णा का स्तम्भ वैश्यों के लिये होता था और उत्तरपूर्व में शूद्रां के लिये नीलवर्णा का स्तम्भ होता था। रङ्गमञ्च के सामने अथवा अगल-बगल बराण्डा होता था जिसको मत्तवारणी कहते थे। दर्शको के समक्ष रंग होता था जो ८ हाथ लम्बा और इतना ही चौड़ा होता था। इसके पीछे रङ्गशीर्ष होता था। यह दोनों ही नाना प्रकार के चित्रों से सुशोभित होते थे।

इनके पीछे यवनिका (अर्थात् पर्दा) पड़ा रहता था। इसके नाम पटी, अपटी, तिरस्करिणी इत्यादि थे। इसके पीछे नेपथ्य होता था। यदि कभी दूर से पुकारने का, गुल, गपाड़े का अथवा तुमुल नाद का अभिनय करना होता था तो वह नेपथ्य में ही किया जाता था। देवताओं की वाणी अथवा आकाशवाणी भी यहीं अभिनीत होती थी। नेपथ्य में दो द्वार होते थे जिनमें से एक से रङ्गमञ्च पर पात्र का प्रवेश होता था। कभी-कभी शीघ्रता के कारण कोई पात्र परदे को झटक कर भी रंगमञ्च पर आ जाता था। दोनों द्वारों के मध्य में वाद्ययंत्रों का स्थान था।

यद्यपि नाट्यशास्त्र में रङ्गमञ्च का विस्तृत विवरण दिया गया है पर मानसार वास्तुशास्त्र अथवा अन्य किसी वास्तुशास्त्र के ग्रंथ में इसका विस्तृत और स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। तथापि राजभवनों में नृत्यशाला अवश्य होती थी और वहाँ पर अन्तःपुर की रानियाँ तथा राजकुमारियाँ अपने नृत्य और संगीत का अभ्यास किया करती थीं। इसके अतिरिक्त छोटा नागपुर में रामगढ़ की पहाड़ियों में सीताबेंगा स्थान पर निरिगुहा में द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी ई० पू० की रंगशाला मिली है जिसका विवरण नाट्यशास्त्र के विवरण से मिलता है। कभी-कभी विशेष उत्सवों के अवसर पर अल्पकालीन मञ्च भी नाट्यशास्त्र के निर्देश के अनुसार बना लिये जाते थे।

जैसा कि नाट्यशास्त्र के अध्यायों के विषय के संक्षेप में बतलाया जा चुका है नाट्यशास्त्र में वेशभूषा तथा वस्त्राभूषणों के संबंध में भी अत्यन्त विस्तारपूर्वक सब बातें बतलाई गई हैं पर क्योंकि प्रस्तुत भूमिका का संबंध केवल प्रथम तीन अध्यायों से है अतएव इन सब रोचक विषयों की चर्चा अधिक विस्तार के साथ फिर कभी की जाएगी।

श्रीभरतमुनिप्रणीतम्

नाट्यशास्त्रम्

प्रथमोऽध्यायः ।

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ॥१॥

पितामह (=दादा) ब्रह्मा जी तथा महेश्वर शिव इन दो देवताओं को शिर से प्रणाम करके मैं नाट्यशास्त्र का वर्णन करूँगा जिसको (पहले) ब्रह्मा जी के द्वारा कहा गया था ।

वि०—ब्रह्मा जी को प्रणाम इसलिए किया गया है कि वे नाट्य-शास्त्र के प्रथम वक्ता हैं। प्रजापतियों के भी पिता होने के कारण वे पितामह हैं। महेश्वर, शिव एवं उनकी अर्द्धाङ्गिनी शिवा ताण्डव एवं लास्य नृत्यों के प्रवर्त्तक होने के कारण नाट्य-शास्त्र में वन्दनीय हैं। मंगलाचरण में ब्रह्मा जी तथा महेश की वन्दना बहुत विरल है। यह इस ग्रंथ की प्राचीनता की सूचक है। इस विषय में यथावसर आगे भी लिखा जायेगा ।

समाप्तजप्यं व्रतिनं स्वसुतैः परिवारितम् ।
अनाध्याये कदाचित् तु (१) भरतं नाट्यकोविदम् ॥२॥

मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा ।
पप्रच्छुस्ते महत्मानो नियतेन्द्रियबुद्धयः ॥३॥

पुराने समय में कभी, जब कि पठनपाठन की छुट्टी के दिन व्रत का आचरण करनेवाले नाट्यशास्त्र के ज्ञाता भरत मुनि जप को समाप्त करके अपने पुत्रों से घिरे हुए (बैठे) थे, तो इन्द्रियों तथा बुद्धियों को संयम में

रखनेवाले आत्रेय आदि महात्मा मुनियों ने उन भरत जी की भली भाँति उपासना करके उनसे पूछा।

[तु के स्थान पर "तम्" पाठांतर है। तम्=उन (भरत मुनि) को।]

वि०--प्राचीन ग्रन्थों में चार भरतों का उल्लेख मिलता है—(१) जड भरत, (२) दौष्यन्ति भरत, (३) कैकेयी-पुत्र भरत तथा (४) नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत। इन अन्तिम भरत के विषय में पुराणों में अधिक चर्चा नहीं मिलती। जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का रूप बनाकर अभिनय किया करते थे वे भरत कहलाते थे। हिन्दी-भाषा तक में "स्वाँग भरना" एक महावरा है। इसी कारण भरतों के शास्त्र के रचयिता के रूप में आदि भरत की कल्पना कर ली गई प्रतीत होती है।

भरत के पुत्रों की नामावलि आगे वर्णित है। पर पुत्रों से तात्पर्य बहुसंख्यक अभिनय करनेवाले नटों से ही है।

अत्रि के पुत्र आत्रेय कहलाते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में दो आत्रेयों का उल्लेख मिलता है—(१) याज्ञ-वल्क्य के शिष्य, (२) वामदेव के शिष्य। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह आत्रेय कौन से हैं।

योऽयं भगवता सम्यग् ग्रथितो (१) वेदसंमितः।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन् (२) उत्पन्नः कस्य वा कृते ॥४॥
कत्यङ्गः किम्प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः[3]।
सर्वमेतद्यथातथ्यं[4] भगवन्वक्तुमर्हसि ॥५॥

"हे ब्रह्मन्! भगवान् (आप) के द्वारा जो यह वेद के तुल्य नाट्यवेद (=नाट्यशास्त्र) भली प्रकार से ग्रन्थ रूप में रचा गया है यह (१) किस प्रकार और (२) किसके लिए उत्पन्न हुआ है? (३) यह कितने अङ्गोंवाला है, (४) इसका कितना (अथवा क्या) प्रमाण है तथा (५) इसका प्रयोग (=अभिनय) किस प्रकार का होता है? हे भगवन् आपको यह सब बातें यथातथ्य (अर्थात् ठीक ठीक) बतलानी चाहिए।"

[(१) कथितः=कहा गया। (२) चायम्=और यह। (३) कीर्तितः=कहा गया। (४) यथातत्त्वम्=ठीक।]

वि०—इन पाँच प्रश्नों से नाट्यशास्त्र के विषय का कुछ आभास प्राप्त होता है। परंतु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं समझना चाहिए कि नाट्यशास्त्र में विषयों के वर्णन का क्रम भी इन प्रश्नों के अनुसार है। प्रथम प्रश्न का उत्तर तो प्रथम अध्याय में ही दे दिया गया है।

द्वितीय प्रश्न के विषय में अभिनवभारतीकार का मत है कि यह शास्त्र कवि और प्रयोक्ता को उपदेश देने के लिए रचा गया है, सामाजिक अथवा द्रष्टा के लिए नहीं। परन्तु यदि सामाजिक भी इसको पढ़ें तो वे भी अवश्यमेव लाभान्वित होंगे।

इस शास्त्र के कितने अङ्ग हैं इस तृतीय प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इस ग्रंथ में नाट्यशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाला कोई भी विषय छूटने नहीं पाया है। इस ग्रन्थ को अपने विषय का विश्वकोष कह सकते हैं। विस्तृत चर्चा के लिए भूमिका देखिए।

प्रमाण शब्द के दो अर्थ हैं। साधारण अर्थ है विस्तार। शास्त्रीय अर्थ है निर्भ्रान्त ज्ञान का साधन। यदि विस्तार अर्थ को लें तो कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ लगभग ६००० श्लोकों में पूर्ण हुआ है जो ३६ (३७) अध्यायों में विभक्त हैं। यदि शास्त्रीय अर्थ को लें तो आगे चलकर नाट्यशास्त्र में स्वयं यह लिखा पाते हैं कि :—

लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।
लोकाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं व्यवस्थितम्॥
(नि० सा० २५।१२२; घो० २६।११८)

नानाशीला प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि ज्ञेयं नाट्यं प्रयोक्तृभिः॥
(नि० सा० २५।१२९; घो० २६।१२६)

अर्थात् इस नाट्यशास्त्र में, (१) लोक, (२) वेद तथा (३) अध्यात्म यह तीन प्रमाण हैं और इनमें भी लोक-प्रमाण मुख्य है। वेदों से नाटकों में अनेकों तत्त्वों को ग्रहण किया गया है यह बात आगे चलकर स्पष्ट हो जायेगी। कुछ आधुनिक लेखकों के अनुसार तो वेदों के संवादसूक्त

ही नाटकों के आदिम रूप हैं। अध्यात्म से तात्पर्य है मनस्तत्त्व जिसके अन्तर्गतमनुष्य का नानाभावसमन्वितसमग्र अन्तर्जगत् आ जाता है। स्थायी-भाव, संचारी-भाव, एवं रस इत्यादि समग्र विषय अध्यात्म से संबद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है "स्वभावोऽध्यात्म-मुच्यते" ८।३। परब्रह्म की जीवरूप में अभिव्यक्ति अध्यात्म कहलाती है। इसी से संबद्ध नाट्यशास्त्र में निम्नलिखित श्लोक भी मिलते हैं :—

वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दश्छन्दःसमन्वितम्।
लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं त्विदम्॥
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।
(नि० सा० २५।१२३; घो० २६।११९-२०)

इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र में लोक प्रमाण अन्य प्रमाणों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

नाट्यशास्त्र में नाटक के सिद्धान्त मात्र का वर्णन नहीं है, अपितु प्रयोग अथवा अभिनय की कला का भी विशद वर्णन है। वास्तव० में अभिनय ही नाटक का प्राण है। इसीलिए कालिदास ने कहा था— "आपरितोषाद्विदुषां साधु न मन्ये प्रयोगविज्ञानम्" शा० १।२। नाट्य-शास्त्र में अभिनय कला का जितना सूक्ष्म वर्णन किया गया है इतना सूक्ष्म वर्णन संसार के अन्य किसी ग्रंथ में किया गया होगा इसमें संदेह है।

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति॥६॥

उन मुनियों के उस वचन को सुनकर इसके उपरान्त भरत-मुनि नाट्यवेद की कथा कहने के लिए उत्तर में (यह) वाक्य बोले।

"भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथावहितमानसैः।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य संभवो (१) ब्रह्मनिर्मितः॥७॥

"आपके द्वारा पवित्र एवं सावधान मनवाले होकर ब्रह्माजी के द्वारा निर्मित नाट्यवेद के जन्म को सुना जाय।"

[(१) संक्षेपः = छोटा सार-रूप ।]

वि०—नाट्यशास्त्र में इस ग्रंथ के लिए 'नाट्यवेद' और 'नाट्यशास्त्र' दोनों नाम आये हैं । वेद शब्द इस ग्रंथ की प्रथमता एवं प्रामाणिकता को सूचित करता है । भारतीय-साहित्य शास्त्र में इससे पुराना और कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता । इसकी रचना कब हुई यह विषय विवादास्पद है । इस विषय में भूमिका देखनी चाहिए । परन्तु इतना निश्चय है कि नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व अनेकों प्रकार का विशाल नाटक-साहित्य संस्कृत-प्राकृत भाषाओं में अवश्य निर्मित हो चुका होगा एवं अभिनय-कला तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति हो चुकी होगी ।

"पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायंभुवेऽन्तरे ।
त्रेतायुगे संप्रवृत्ते (१) मनोर्वैवस्वतस्य च ॥८॥
ग्राम्यधर्मे (२) प्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते ।
ईर्ष्याक्रोधादि संमूढे लोके सुखितदुःखिते ॥९॥
देवदानवगंधर्व (३) रक्षोयक्षमहोरगैः ।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते ॥१०॥
महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं चयद्भवेत् ॥११॥
नवेद्व्यवहारोऽयं (४) संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम् ॥१२॥

हे ब्राह्मणों, पूर्वकाल में स्वायंभुव मन्वन्तर में सत्ययुग के समाप्त हो जाने पर तथा वैवस्वतमनु के मन्वन्तर के त्रेतायुग के आरम्भ हो जाने पर, जब काम और लोभ के वश होकर लोक ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त हो गया, एवं ईर्ष्या तथा क्रोध इत्यादि से संमूढ (बुद्धि रहित) होकर सुख-दुःख को प्राप्त हुआ, और जब लोकपालों से प्रतिष्ठित (= रक्षित) जंबूद्वीप देव, दानव, गंधर्व, राक्षस, यक्ष तथा महान् सर्पों से पूर्णतया आक्रान्त हो गया तब यह सब हो जाने पर, इन्द्र जिनका मुखिया था ऐसे देवताओं द्वारा पितामह ब्रह्माजी से यह कहा गया कि—"हम ऐसा

खेल (अथवा खिलोना) चाहते हैं जो देखने तथा सुनने दोनों के ही योग्य हो।"

[(१) ऽथ सम्प्राप्ते = इसके उपरान्त आ जाने पर। (२) धर्मे प्रवृत्ते = (ग्राम्य) धर्म में अर्थात् इन्द्रिय-लोलुपता में लग जाने पर। (३) गंधर्वयक्षरक्षो = गंधर्व, यक्ष तथा राक्षसों इत्यादि द्वारा। (४) नव्य-वेदविहारोऽयम् = यह नये वेद का विहार (अर्थात् प्रचलन)।]

वि०—आठवें श्लोक का अर्थ अभिनवगुप्त ने इस प्रकार बतलाया है कि नाट्यशास्त्र की प्रवृत्ति प्रत्येक मन्वन्तर में सत्ययुग के समाप्त होने पर तथा त्रेतायुग के आरम्भ होने पर होती आई है। इस विद्यमान वैवस्वत मन्वन्तर में भी नाट्यशास्त्र का प्रादुर्भाव त्रेतायुग में ही हुआ। यह सातवाँ मन्वन्तर है। दूसरे से लेकर छठे मन्वन्तर तक भी त्रेतायुग में ही नाट्यशास्त्र की प्रवृत्ति होती रही होगी।

भारतीय कालमान मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में ६४ से ८० श्लोक वर्णित है। इसके अनुसार ब्रह्माजी का एक दिन कल्प कहलाया है और उसमें १४ मन्वन्तर समाप्त हो जाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी होती हैं। एक चतुर्युगी अथवा महायुग में ४३२०००० मानव (३६० दिनवाले) वर्ष होते हैं = (सत्ययुग = १७२८००० + त्रेतायुग = १२९६००० + द्वापर = ८६४००० + कलियुग = ४३२०००)। आचार्य अभिनव गुप्त की व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं होता कि नाट्यशास्त्र का प्रादुर्भाव प्रत्येक मन्वन्तर की प्रथम चतुर्युगी के त्रेतायुग में होता है अथवा प्रत्येक चतुर्युगी के त्रेता में। प्रस्तुत विषय को समझने के लिए इतने विस्तार की आवश्यकता भी नहीं है।

मनुओं की नामावलि इस प्रकार है—(१) स्वायंभुव, (२) स्वारोचिष, (३) औत्तमि, (४) तामस, (५) रैवत, (६) चाक्षुष, (७) वैवस्वत, (८) सावर्णि, (९) दक्षसावर्णि, (१०) ब्रह्मसावर्णि, (११) धर्मसावर्णि, (१२) रुद्रसावर्णि, (१३) रौच्य-दैवसावर्णि, तथा (१४) इन्द्रसावर्णि।

सत्ययुग में पूर्णधर्माचरण के कारण मनुष्य पूर्णतया सुखी रहते थे।

पर त्रेतायुग में युगह्रासानुरूपतः ग्राम्यधर्मों का उदय हुआ। जिन लोगों ने शास्त्र के अर्थ को न सुना हो तथा जो इस कारण स्वधर्म का पालन न करते हों ऐसे लोगों के देश का धर्म ग्राम्य-धर्म कहलाता है। स्पष्ट है कि ऐसे मनुष्यों का जीवन एकान्त सुखित नहीं प्रत्युत सुखित-दुःखित होगा।

पौराणिक भूगोल के अनुसार पृथ्वी में सप्तद्वीप माने जाते थे—जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप तथा पुष्कर द्वीप। जम्बूद्वीप अन्यद्वीपों के मध्य में स्थित है और भारतवर्ष इसका एक खण्ड है।

दुःख से चित्त को बहलाने के लिए क्रीडनीयक-खेल खिलोने की आवश्यकता होती है। यह है नाटक की उत्पत्ति का कारण।

एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥१३॥

उनसे यह कहकर कि 'ऐसा ही हो,' तथा देवराज इन्द्र को विदा करके, तत्त्व को जाननेवाले ब्रह्माजी ने योग (=समाधि) में स्थित होकर चारों वेदों को याद किया।

[नेमे वेदा यतः श्राव्याः स्त्रीसूद्राद्यासु जातिषु।
वेदमन्यत्ततः स्त्रदये सर्वश्राव्यं तु पञ्चमम्। (प्रक्षिप्त)

क्योंकि यह (अद्यावधि उपलब्ध चारों) वेद स्त्री तथा शूद्र इत्यादि चारों जातियों में नहीं सुनाये जा सकते इसलिए मैं इनसे भिन्न सबके सुनने योग्य पांचवे वेद की रचना करूँगा।]

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य (१) सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥१४॥
सर्वशास्त्रार्थसंपन्नं सर्वशिल्पप्रवर्त्तकम् (२)।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥१५॥
संकल्प्य भगवानेवं (३) सर्वान्वेदाननुस्मरन् (४)।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम् ॥१६॥ 54.

जो धर्म और अर्थ की प्राप्ति करानेवाला (अथवा धर्म और अर्थ के अनुकूल), यशः प्रदाता, उपदेश सहित, (उपयोगी ज्ञान के) संग्रह से (अथवा लोकहित की भावना से) युक्त, भावी संसार (लोकवर्ग) के लिए सब कर्मों का अनुदर्शक (अर्थात् पथ प्रदर्शन करनेवाला) सब शास्त्रों के अर्थों से परिपूर्ण, सब शिल्पों को काम में प्रवृत्त करनेवाला होगा, मैं ऐसे नाट्यनामक पाँचवे वेद की रचना इतिहास सहित करता हूँ। भगवान् ब्रह्मा जी ने इस प्रकार संकल्प करके, सब वेदों का स्मरण करते हुए, तत्पश्चात् नाट्यवेद की रचना की, जिसकी उत्पत्ति चारों वेदों के अङ्गों से हुई।

[(१) लोकेऽस्य = संसार में इसका। (२) शिल्पप्रवर्त्तकम् = शिल्पों को काम में प्रवृत्त करनेवाला। सर्वशिल्पप्रदर्शकम् = सब शिल्पों को प्रदर्शित करनेवाला। (३) एवं संकल्प्य भगवान् = इस प्रकार संकल्प करके भगवान् ब्रह्मा जी ने। (४) सर्ववेदाननुस्मरन् = सब वेदों का स्मरण करते हुए।]

वि०—नाटक की विविधार्थसम्पन्नता के विषय में जो बात यहाँ कही गयी है उसी को अधिक विस्तार के साथ इसी अध्याय के १०७-११६ श्लोकों में समझाया गया है।

नाटक के आद्यारम्भ से लेकर आजतक यह बात तो सर्वमान्य रही है कि नाट्य एक संमिश्रित कला (कम्पोज़िट आर्ट) है जिसमें अन्य अनेकों शिल्पों और कलाओं का योग रहता है। वास्तु, चित्र, सङ्गीत इत्यादि न जाने कितनी कलाएँ इसमें सम्मिलित होती हैं।

इतिहास (इति + ह + आस) का अर्थ है 'ऐसा (ही) था'। पूर्व-काल की घटनाओं का वर्णन इतिहास कहलाता है। कहा है :—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
इतिवृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

अर्थात् इतिहास उस (साहित्यिक रचना) को कहते हैं जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेश के साथ पुरानी घटनाओं की कथा से

युक्त हो। इस प्रकार की रचना का सुविख्यात उदाहरण महाभारत है। महाभारत भी पंचमवेद कहलाता है एवं नाट्यशास्त्र को भी यहाँ यही नाम दिया गया है। इतिहास शब्द के लिए आगे १९ वाँ श्लोक भी देखना चाहिये।

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान्रसानाथर्वणादपि ॥१७॥
वेदोपवेदैः संबद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना (१) ॥१८॥

(उन ब्रह्मा जी ने) पढ़ने की सामग्री को ऋग्वेद से, गीत (ही) को सामवेद से, अभिनयों को यजुर्वेद से एवं रसों को आथर्वण वेद से (भी) लिया। इस प्रकार सब वेदो के ज्ञाता (अथवा सब कुछ जाननेवाले) महात्मा भगवान् ब्रह्मा जी के द्वारा वेदों और उपवेदों से संबंध रखने वाला (यह) नाट्यवेद रचा गया।

[(१) ललितात्मकम्=सुन्दर स्वरूप अथवा स्वभाववाला।]

वि०—वेदों पर नाट्यशास्त्र की निर्भरता के विषय में यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है। पर आगे चलकर नाटक के अन्य विषयों की वेदों पर निर्भरता के संबंध में और भी उल्लेख इसी ग्रंथ में उपलब्ध होते हैं। १७वें श्लोक से यह स्पष्ट है कि नाटक के चार अङ्ग—पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस मुख्य हैं।

उपवेद चार हैं—ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गंधर्ववेद तथा अथर्ववेद का स्थापत्यवेद (अथवा स्थापत्यशास्त्र)।

उत्पाद्य नाट्यवेदं तु ब्रह्मोवाच सुरेश्वरम्।
इतिहासो मया सृष्टः (१) स सुरेषु नियुज्यताम् ॥१९॥

नाट्यवेद को उत्पन्न करके ब्रह्मा जी ने देवराज इन्द्र से कहा "मेरे द्वारा यह इतिहास रच दिया गया, (अब) तुम्हारे द्वारा इसका नियोजन (अभिनय) देवताओं में कराया जाना चाहिये।"

[दृष्टः = जैसे अन्य वेदों के मंत्र विश्वामित्र इत्यादि ऋषियों द्वारा देखे गये इसी प्रकार यह वेद मेरे द्वारा देखा गया। वैदिक ऋषियों की परिभाषा ही यह है कि वे मंत्रद्रष्टा है :—ऋषयोमंत्र-द्रष्टारः।]

वि०—१८वें श्लोक में कहा गया था "नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्" और यहाँ कहा है "इतिहासो मया सृष्टः"। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इतिहास के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं - "अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः" १।३।२। अर्थात् अथर्ववेद और इतिहास-वेद वेद कहलाते हैं। "पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थ-शास्त्रं चेतीतिहासः" १।५।१४ अर्थात् पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र यह (सब) इतिहास कहलाते हैं। इस इतिहास को सुनने के लिये राजा को दिन का पिछला भाग देना चाहिये—"पश्चिममितिहासश्रवणे" १।५।१२। इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में इतिहास का अर्थ आधुनिक अर्थ से अधिक व्यापक था। इस अर्थ के अनुसार रामायण एवं महाभारत की गणना इतिहास ग्रंथों के अन्तर्गत होती थी। टॉयन्बी का "स्टडी ऑफ हिस्ट्री" नामक ग्रंथ इसी अर्थ में इतिहास कहा जा सकता है।

प्रथम अध्याय के अन्त में जो नाटक के स्वरूप का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है उसमें तथा अर्थशास्त्र की (१।५।१४) इतिहास की परिभाषा में बहुत कुछ साम्य है। उस विवरण के पश्चात् १२०वें श्लोक में पुनः "इतिहास" शब्द आया है।

कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो हि वेदः संक्राम्यतां त्वया ॥२०॥

"जो (देवता) कार्यकुशल, पण्डित, वाक्पटु तथा थकान को जीते हुए हों उनको यह नाट्य नामवाला वेद तुम्हारे द्वारा संक्रान्त किया (= अभिनय के लिये सौंपा) जाना चाहिये।

इस श्लोक में अभिनेताओं के चार गुण बतलाये गये हैं—(१)

(कार्यकुशलता,) २) पांडित्य ३) वाक्पटुता और (४) थकान की जीतने की शक्ति ।

तच्छ्रुत्वा भगवान् शक्रो ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम् ॥२१॥

ब्रह्मा जी के द्वारा जो कहा गया था उसको सुनकर भगवान् इन्द्र ने हाथ जोड़कर तथा प्रणत (झुके हुए) होकर पितामह ब्रह्माजी के प्रति यह वचन कहा ।

"ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम ।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्य कर्मणि" ॥२२॥

"हे अच्छों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी इस (नाट्यवेद) को ग्रहण करने (समझने) में, धारण करने (याद रखने) में, जानने में और प्रयोग (अभिनय) करने में देवता असमर्थ हैं, तथा हे भगवान् वे इस नाट्यकर्म में अयोग्य हैं ।"

"य इमे वेदगुह्यज्ञा ऋषयः[1] संशितव्रताः ।
एतेऽस्य ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा" ॥२३॥

"वेद के छिपे रहस्य को जाननेवाले, प्रशंसा योग्य व्रतों का पालन करनेवाले ये जो ऋषि लोग हैं यह ही इस (नाट्यवेद) को समझने, प्रयोग (अभिनय) करने तथा धारण करने (याद रखने) में समर्थ हैं ।

[१ मुनयः = मुनि लोग]

श्रुत्वातु शक्रवचनं मामाहाम्बुजसंभवः ।
"त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्तास्य भवानघ" ॥२४॥

इन्द्र के वचन को सुनकर (विष्णु भगवान की नाभि के) कमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मा जी ने मुझ (भरत) से कहा, "हे निष्पाप (भरत) तुम अपने सौ पुत्रों के सहित इस (नाट्यवेद) के प्रयोग (अभिनय) करनेवाले हो जाओ ।"

आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात् ।
पुत्रानध्यापयामास[1] प्रयोगं चापि[2] तत्त्वतः ॥२५॥

ब्रह्मा जी के द्वारा (इस प्रकार) आज्ञा दिये हुए मैंने पितामह ब्रह्मा जी से नाट्यवेद को जान जानकर उसको औरउसके प्रयोग को भी ठीक प्रकार से अपने पुत्रों को पढ़ाया।

[१ पुत्रानध्यापयं योग्यान्=मैंने योग्य पुत्रों को पढ़ाया। २ चास्य=और इसका।]

शाण्डिल्यं चैव[1] वात्स्यं च कोहलं[2] दत्तिलं तथा।
जटिलाम्बष्टकौ[3] चैव तण्डुमग्निशिखं तथा ॥२६॥
सैन्धवं सपुलोमानं शाद्वलिं[4] विपुलं तथा।
कपिञ्जलिं वादिरं[5] च यमधूम्रायणौ तथा ॥२७॥
जम्बुध्वजं काकजंघं स्वर्णकं तापसं तथा।
कैदारिं[6] शालिकर्णं च दीर्घमात्रं च शालिकम् ॥२८॥
कौत्सं ताण्डायनिं चैव पिङ्गलं चित्रकं तथा।
बन्धुल भल्लकं चैव मुष्टिकं[7] सैन्धवायनम् ॥२९॥
तैतिलं भार्गवं चैव शुचिं बहुलमेव च।
अबुधं बुधसेनं च पाण्डुकर्णं सुकेरलम्[8] ॥३०॥
ऋजुकं मण्डकं चैव शम्बरं वञ्जुलं तथा।
मागधं सरलं चैव[9] कर्त्तारं चोग्रमेव च ॥३१॥
तुषारं[10] पार्षदं चैव गौतमं बादरायणम्[11]।
विशालं शबलं चैव सुनाभं[12] मेषमेव च ॥३२॥
कालियं भ्रमरं चैव तथा पीठमुखं मुनिम्।
नखकुट्टाश्मकुट्टौ च षट्पदं सोत्तमं तथा ॥३३॥
पादुकोपानहौ चैव श्रुतिं चाषस्वरं तथा।
अग्निकुण्डाज्यकुण्डौ च वितण्ड्यं[13] ताण्ड्यमेव च ॥३४॥
वार्तराक्षं हिरण्याक्षं कुशलं दुःसहं[14] तथा।
लाजं[15] भयानकं चैव बीभत्सं सविचक्षणम् ॥३५॥
पुण्ड्राक्षं[16] पुण्ड्रनासं[17] च असितं सितमेव च।
विद्युज्जिह्वं महाजिह्वं शालङ्कायनमेव च ॥३६॥

श्यामायनं[१८] माठरं च लोहिताङ्गं तथैव च।
संवर्त्तकं पञ्चशिखं त्रिशिखं शिखमेव च ॥३७॥
शङ्खवर्णमुखं षण्डं शङ्कुकर्णमथापि च।
शक्रनेमिं गभस्तिं चाप्यंशुमालिं शठं तथा ॥३८॥
विद्युतं शातजङ्घं च रौद्रं[१९] वीरमथापि च।
पितामहाज्ञयास्माभिर्लोकस्य च गुणेप्सया ॥३९॥
प्रयोजितं पुत्रशतं यथाभूमिविभागशः।
यो यस्मिन्कर्मणि यथा[२०] योग्यस्तस्मिन् स योजितः ॥४०॥

शाण्डिल्य, वात्स्य, कोहल (१ दूसरा नाम केहाल), दत्तिल, जटिल (२ दू० ना० जट्टल), अम्बष्ठ, तण्डु, (दू० ना० ताण्डु), अग्निशिख, सैन्धव, पुलोमन् (सहित), शाड्वलि (४ दू० ना० शाड्वली), विपुल, कपिञ्जलि, बादिर (५ दू० ना० बादिरि), यम (दू० ना० बम), धूम्रायण, जम्बुध्वज, काकजङ्घ, स्वर्णक, तापस, कैदारि (६ दू० ना० केदार), शालिकर्ण (दू० ना० शातकर्ण), दीर्घमात्र, शालिक, कौत्स, ताण्डायनि, (णि), पिङ्गल, चित्रक, बन्धुल, भल्लाक (दू० ना० भक्तक), मुष्टिक, (७ दू० ना० मुष्टीक), सैन्धवायन, तैतिल, भार्गव, शुचि, बहुल, अबुध, बुधसेन, पाण्डुकर्ण, केरल (अन्य नाम सुकेरल अथवा सकेरल), ऋजुक, मण्डक, शम्बर, वञ्जुल, मागध, सरल, कर्ता, उग्र, तुषार (दू० ना० तुषाद), पार्षद, गौतम, बादरायण, (दू० ना० बादरायणि), विशाल शबल, सुनाभ, मेष, (अथवा सुनील और मेष), कालिय, भ्रमर, पीठमुख, मुनि, नखकुट्ट, अश्मकुट्ट, षट्पद, उत्तम, पादुक, उपानत्, श्रुति, चापस्वर, अग्निकुण्ड, आज्यकुण्ड, वितण्ड्य, ताण्ड्य, कर्तराक्ष, हिरण्याक्ष कुशल, दुःसह, (दू० ना० दुःषह) लाज (दू० ना० जाल) भयानक, बीभत्स विचक्षण, पुण्ड्राक्ष (दू० ना० पुण्डाक्ष) पुण्ड्रनास (दू० ना० पूर्णनास), असित, सित, विद्युज्जिह्व, महाजिह्व, शालङ्कायन, श्यामायन (दू० ना० त्यामायन) माटर, लोहिताङ्ग, संवर्त्तक, पंचशिख त्रिशिख,

शिख, शंखवर्णमुख, षण्ड, शङ्कुकर्ण, शक्रनेमि, गभस्ति, अंशुमाली, शठ, विद्युत्, शातजङ्घ, रौद्र और वीर (दू० ना० रौद्रवीर) इन सब सौ पुत्रों को पितामह ब्रह्मा जी की आज्ञा से तथा लोक के गुण (=लाभ) की इच्छा से हमारे द्वारा भूमि (पात्र अथवा स्थान) के विभाग के अनुसार कार्य में लगाया गया। जो जिस कार्य में जैसा योग्य था उसको उसी में नियोजित किया गया।

[इन श्लोकों में जो नामों के पाठान्तर उपलब्ध होते हैं वह कोष्ठकों में (दूसरा नाम) इस प्रकार दे दिये हैं। पर कुछ प्रतियों में २७ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध का पाठान्तर इस प्रकार मिलता है :—बन्धलं भक्तकं चैव मुष्टिकं सैन्धवायनम्। = अर्थात् बन्धल, भक्तक, मुष्टिक, सैन्धायनम्। यही पंक्ति २९ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार मिलती है :—बन्धुलं भल्लकं चैव मुष्टिकं सैन्धवायन्। अन्तर केवल दो नामों में है—बन्धल और बन्धुल में तथा भक्तक और भल्लक में।]

वि० २६ वें श्लोक से लेकर ३९ वें तक भरत मुनि के पुत्रों की नामावलि दी गई है। नामों के अतिरिक्त जो 'च', 'तथा', 'एव', 'अपिच' 'स-', 'तथैव च', 'एव', 'च' इत्यादि शब्द आये हैं वे 'और' अर्थ को सूचित करते हैं। निरर्थक पुनरुक्ति न हो इसलिये हमने बार बार उनका अनुवाद नहीं दिया। इन में से कुछ नाम कुलान्वय को सूचित करते हैं तथा बहुत से सार्थक यौगिक शब्द हैं। यों तो नामों की संख्या १०५ है; पर स्पष्ट ही कुछ शब्द विशेषण जैसे प्रतीत होते हैं।

इनमें कुछ तो निश्चय ही नाट्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र से संबद्ध अभिनयकला, नृत्यकला एवं सङ्गीतशास्त्र पर प्रबन्ध लिखनेवाले हैं। कोहल के नाम का उल्लेख तो स्वयं नाट्यशास्त्र में (३६-६५/३८-१८) हुआ है। कोहल, दत्तिल, शालिकर्ण, बादरायण, नखकुट्ट, अश्मकुट्ट इत्यादि का उल्लेख पश्चात्कालीन लेखकों—दामोदरगुप्त, हेमचंद्र, शार्ङ्गदेव, शारदातनय, सिंहभूपाल इत्यादि—ने अपने ग्रंथों में किया है। इससे

यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में नाट्यशास्त्र से संबन्धित विशाल साहित्य विद्यमान था। संभव है कि इस विपुल साहित्य के विनाश का संकेत हमको नटशाप नामक ३६ वें अध्याय में (निर्णयसागरसंस्करण) दिया गया है।

भारतीं सात्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा।
समाश्रितः प्रयोगस्तु प्रयुक्तो वै मया[1] द्विजाः ॥४२॥

हे द्विजो ! मैंने भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों पर भली भाँति आश्रित प्रयोग (=अभिनय) को ही प्रस्तुत करने का उपक्रम किया।

[(१) महाद्विजाः=महान् ब्राह्मणों।]

परिगृह्य (१) प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया।
अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपियोज्य ॥ २४ ॥

इसके पश्चात् समीप जाकर प्रणाम करके ब्रह्मा जी को मेरे द्वारा (अपनी तैयारी के विषय में) सूचित किया गया। तब ब्रह्मा जी ने मुझसे कहा कि "(इन वृत्तियों के साथ तुम) कैशिकी वृत्ति को भी योजित कर लो।

[१ प्रगृह्य =आलिङ्गन करके अथवा पास जाकर।]

यच्च तस्याः[1] क्षमं (योग्यं) द्रव्यं तद्ब्रूहि द्विजसत्तम।
एवं तेनास्म्यभिहितः[2] प्रत्युक्तश्च[3] मया प्रभुः ॥ ४३ ॥

"और हे द्विजश्रेष्ठ, उस (कैशिकी वृत्ति) की योजना के लिये जो योग्य द्रव्य (=आवश्यक सामग्री) हो उसको बतलाओ।" उनके द्वारा मुझसे इस प्रकार कहा गया। तब मेरे द्वारा प्रभु ब्रह्मा जी से (इस प्रकार) कहा गया।—

[१ तस्याक्षमम् ?=उसके लिये उचित ? २ तेनाभ्यभिहितः ?= उनके द्वारा कहा गया ? ३ प्रत्युक्तश्च=और (उनको) उत्तर दिया गया।]

दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः संप्रयोजकम्।
नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना[1] रसभावक्रियात्मिका ॥ ४४ ॥
दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः।
कैशिकी श्लक्ष्णनै(ने)पथ्या शृंङ्गाररससंभवा ॥ ४५ ॥

"हे भगवन् आप (मुझको) वह द्रव्य दीजिये जो कैशिकी वृत्ति के सम्यक् प्रयोग के लिये आवश्यक है। जो नृत्त के अङ्गहारों से (अङ्गसञ्चालनों से) सम्पन्न है तथा रस, भाव और क्रिया जिसकी आत्मा है, जिसके लिये सुन्दर वस्त्रों की आवश्यकता होती है, और शृङ्गाररस से जिसकी उत्पत्ति होती है, ऐसी वह कैशिकी वृत्ति भगवान् नीलकण्ठ के नृत्य के समय मेरे द्वारा देखी गई थी।

(१ मृद्वङ्गहारसंयुक्ता = अङ्गों की कोमल गति अथवा कोमल अङ्गों की गति से संयुक्त।]

वि०—अंगहारों के वर्णन के लिये नाट्यशास्त्र के ४ अध्याय के १६-२८ तथा १७०-२४५ श्लोक तथा रस और भावों के लिये ७ वाँ अध्याय देखिये। कैशिकी वृत्ति

अशक्या पुरुषैः साधु[1] प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन् महातेजा मनसाप्सरसो विभुः ॥ ४६ ॥

यह कैशिकी वृत्ति स्त्रियों के बिना—पुरुषों के द्वारा—भली भाँति प्रयुक्त (अभिनीत) नहीं की जा सकती। तब उन महान् तेजस्वी (= ब्रह्मा जी) ने अपने मन से (= संकल्प से) अप्सराओं की सृष्टि की।

[१ सातु = वह (कैशिकी वृत्ति) तो।]

वि० इन ४२-४६ श्लोकों का क्रम कुछ उलझा हुआ सा प्रतीत होता है। यदि यह क्रम निम्नलिखित हो तो संभावतया अधिक अच्छा हो—

अथाह मां सुरगुरुः कैशिकीमपि योजय।
नृत्ताङ्गहरसंपन्ना रसभावक्रियात्मिका ॥
दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः।
कैशिकी श्लक्ष्णनै(ने)पथ्या शृङ्गाररससंभवा ॥
परिगृह्य प्रणम्याथ ब्रह्मा विज्ञापितो मया।
अशक्या पुरुषैः साधु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते ॥
दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः संप्रयोजकम्।

यच्च तस्याः क्षमं द्रव्यं तद्ब्रूहि द्विजसत्तम ॥
एवं तेनास्म्यभिहितः प्रयुक्तश्च मया प्रभुः ।
ततोऽसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभुः ॥

इस क्रम के अनुसार इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार होगा—

(भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियों के अनुसार अभिनय करने के लिये प्रस्तुत हो जाने पर) सुरगुरु ब्रह्माजी ने मुझ (भरत) से कहा कि तुम अभिनय में कैशिकीवृत्ति की भी योजना करो। यह वृत्ति मेरे (=ब्रह्मा के) द्वारा भगवान् नीलकण्ठ के नृत्य करते समय देखी गयी थी। यह नृत्ताङ्गहारों (नृत्त संबंधी सुन्दर अङ्ग सञ्चालन) से संपन्न है; रस, भाव तथा क्रिया इसकी आत्मा है; सुन्दर एवं सुचारु वेशभूषा से युक्त यह वृत्ति शृङ्गाररस से उत्पन्न होती है। ब्रह्माजी के आदेशानुसार प्रणाम करके मैंने इसको स्वीकार कर लिया। तदुपरान्त ब्रह्माजी को मेरे द्वारा यह विज्ञापित किया गया कि इस वृत्ति का अभिनय स्त्रियों के बिना—(केवल) पुरुषों द्वारा—भली भाँति किया जाना शक्य नहीं है; अतएव हे भगवन, जिस द्रव्य (साधन-सम्पत्ति) से इसका अभिनय सम्यक् प्रकार से हो सके, आप वह द्रव्य मुझको दीजिये। इस पर उन (ब्रह्माजी) के द्वारा मुझ से इस प्रकार कहा गया कि हे श्रेष्ठ द्विज उसके लिये जो द्रव्य योग्य हो, तुम उसको बतलाओ; तथा मेरे द्वारा (स्त्रियों को प्रस्तुत करने के लिये) प्रेरित किये जाने पर उन महातेजस्वी प्रभु ब्रह्माजी ने अपने मन (=मनः सङ्कल्प) से अप्सराओं को रचा।

नाट्यालङ्कारचतुराः प्रादान्मह्यं प्रयोगतः ।
मञ्जुकेशीं सुकेशीं च मिश्रकेशीं सुलोचनाम् ॥ ४७ ॥
सौदामिनीं देवदत्तां देवसेनां मनोरमाम् ।
सुदतीं सुन्दरीं चैव विदग्धां विपुलां[1] तथा ॥ ४८ ॥
सुमालां सन्ततिं चैव सुनन्दां सुमुखीं तथा ।
मागधीमर्जुनीं चैव सरलां केरलां[2] धृतिम् ॥ ४९ ॥
नन्दां[3] सुपुष्कलां चैव कलभां चैव मे[4]ददौ ।

ये अप्सराएँ नाट्य के अलङ्कारों में चतुर थीं, ब्रह्माजी ने अभिनय कार्य के लिये उनको मुझे प्रदान किया । मञ्जुकेशी, सुकेशी, मिश्रकेशी, सुलोचना, सौदामिनी, देवदत्ता, मनोरमा, देवसेना, सुदती, सुन्दरी, विदग्धा, विपुला, सुमाला, सन्तति,सुनन्दा, सुमुखी मागधी, अर्जुनी, सरला, केरला, धृति, नन्दा, (सु-)पुष्कला और कलभा नामक अप्सराओं को ब्रह्माजी ने मुझको दिया ।

[१ विविधां = तथाऔर विविधा को । २ केरलान्धतीम् = केरलान्धती को । ३ नन्दां सुपुष्पमालां = नन्दा और सुपुष्पमाल को । ४ निर्ममे = बनाया । नाट्यालङ्कार चतुरा: का अर्थ "नाटक को अलंकृत अथवा सुशोभित करने में निपुण" ऐसा भी हो सकता है ।]

वि० नाट्यालंकारों के वर्णन के लिये १६/१७ और २२/२४ अध्याय देखने चाहिये ।

भारतीय नाट्य आरंभ से ही स्वाभाविकता की ओर अधिक झुका रहा है । प्राचीन ग्रीस देश में तथा यूरोप में मध्यकाल तक स्त्री और पुरुष दोनों ही प्रकार के पात्रों का अभिनय पुरुष ही किया करते थे । पर भारतवर्ष में आरंभ से ही स्त्रियों का अभिनय स्त्रियाँ ही करती थीं ।

स्वातिर्भाण्डनियुक्तस्तु सह शिष्यैः स्वयंभुवा ॥ ५० ॥

स्वयंभू ब्रह्माजी के द्वारा स्वाति अपने शिष्यों के साथ वाद्ययंत्रों के बजाने के लिये नियुक्त किया गया ।

[१ स्वातिभाण्डो = स्वाति नामक भाण्ड (= भँड़ैती करनेवाला)। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—स्वयंभू ब्रह्माजी के द्वारा स्वाति नामक भाँड़ अपने शिष्यों के सहित भँड़ैती (Jesting, joking) के लिये नियुक्त किया गया ।]

नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे[1] नियोजिताः ।
एवं नाट्यमिदं[2] सम्यग्बुद्ध्वा सर्वैः सुतैः सह ॥ ५१ ॥
स्वातिनारदसंयुक्तो[3] वेदवेदाङ्गकारणम् ।
उपस्थितोऽहं लोकेशं प्रयोगार्थं कृताञ्जलिः ॥ ५२ ॥

नारदादि गन्धर्व गानयोग (गाने के काम) में नियोजित कर दिये गये। इस प्रकार सब पुत्रों के साथ इस नाट्य को भली प्रकार समझ कर मैं स्वाति और नारद सहित, वेद और वेदाङ्गों के कारण लोक के ईश्वर ब्रह्माजी के पास हाथ जोड़कर इसके प्रयोग के लिये उपस्थित हुआ।

[१ नाट्ययोगे=नाटक की योजना अथवा कार्य में। २ भावनाट्यमिदम्=यह भावों का नाट्य। ३ येन नारदसंयुक्तः=जिससे नारद के साथ।]

अभिनवभारती में 'गानयोगे' पद में 'गान' शब्द का अर्थ वीणा इत्यादि तंत्रियों अथवा वंशी इत्यादि का बजाना दिया गया है। संभवतया ऐसा अर्थ नारद की वीणा के संबन्ध के कारण किया गया है।

कुछ हस्तलिखित पुस्तकों में १८वें श्लोक की दूसरी पंक्ति (एवं भगवता इत्यादि) से लेकर ४२वें श्लोक की प्रथम पंक्ति (स्वातिनारदसंयुक्तो) तक का अंश नहीं है।

वि० ऊपर जिन वृत्तियों का नामोल्लेख किया गया है उनका विस्तृत विवरण नाट्यशास्त्र के २२वें अध्याय में मिलता है। यहाँ उस अध्याय से लेकर इनके संक्षिप्त रूप का वर्णन किया जाता है।

१. भारतीवृत्ति।

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता, सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

(ना० शा० $\frac{२०}{२२}$। २५)

जिसमें बोलने की प्रधानता हो, जो पुरुषों के द्वारा अभिनय की जाती हो, स्त्रियों के लिये वर्जित हो, संस्कृत वाक्यों से युक्त हो, भरतों (नटों) के द्वारा प्रयुक्त होती हो उसको भारती वृत्ति कहते हैं।

२. सात्वतीवृत्ति।

या सात्वतेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तुवृत्तिः॥

(ना० शा० $\frac{२०।३७}{२२।३८}$)

जो वृत्ति सत्त्वगुण से युक्त होती है, न्यायोचित आचरण से समन्वित होती है, हर्ष से उत्कट (परिपुष्ट) तथा शोकभाव से रहित होती है (अथवा जिसमें शोक का भाव दबा दिया जाता है) उसको सात्वती वृत्ति कहते हैं।

३. कैशिकीवृत्ति।

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा, स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा, तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥

(ना० शा० २० । ४६ / २२ । ४७)

जो वृत्ति सुन्दर नेपथ्य (वेशभूषा) से विशेष प्रकार से विचित्र हो, स्त्रियों से युक्त हो, बहुत अधिक नाचने गाने से समन्वित हो, काम के उपभोग से जनित उपचारों से युक्त हो उसको कैशिकी वृत्ति कहते हैं।

४. आरभटीवृत्ति।

प्रस्तावपातप्लुतलङ्घितानि चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युक्तानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति॥

(ना० शा० २० । ५६ / २२ । ५६)

जिसमें उठने, गिरने, उछलने तथा लाँघने की घटनाओं का योग हो, माया द्वारा किये गये इन्द्रजाल का वर्णन हो, तथा जिसमें नित्य अनोखी घटनाओं की योजना हो उस तादृशी (वैसी) वृत्ति को आरभटी वृत्ति कहते हैं।

इनके संक्षिप्त स्वरूप और प्रयोग को नाट्यशास्त्र में इस प्रकार कहा गया है—

शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्यात् कैशिकीति सा।
सात्वती नाम सा ज्ञेया, वीररौद्राद्भुताश्रया॥

भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।
भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया ॥

(ना० शा० २० । ६२ – ६३
२२ । ६३ – ६४)

अर्थात् शृङ्गार और हास्य रस में कैशिकी वृत्ति हो, सात्वती नाम से उस वृत्ति को जानना चाहिये जो वीर, रौद्र और अद्भुत रसों का आश्रय है। भयानक, बीभत्स और रौद्ररस में आरभटी वृत्ति होती है तथा भारती वृत्ति को (भी) करुण और अद्भुत रस का आश्रय जानना चाहिये।

प्राचीन काल से इन वृत्तियों के विषम में दो परम्परायें चली आती थीं—एक शैवी, दूसरी वैष्णवी। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में शैवी परम्परा का उल्लेख हुआ है। बीसवें/बाईसवें अध्याय में वैष्णवी परम्परा का विस्तृत वर्णन है। विष्णु ने जब अपने पराक्रम से मधुकैटभ का वध किया था, उस समय युद्ध करते हुए उन्होंने जो चेष्टाएँ की थीं उन्हीं से इन वृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। (ना० शा० $\frac{२०}{२२}$ प्रारंभिक श्लोक)। शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन नामक ग्रंथ में एक अन्य प्रसंग से भी इन वृत्तियों का उत्पन्न होना कहा है। पार्वती का नाट्य देखते समय ब्रह्मा के चारों मुखों से चार वृत्तियाँ और तदनुसारी रस उत्पन्न हुए।

इन वृत्तियों का नामकरण किस प्रकार हुआ? इस विषय में यह कल्पना की गयी है कि इनके यह नाम, भरत, सात्वत, केशिक एवं आरभट नाम की प्राचीन जातियों के नाम पर पड़े हैं। भरत और सात्वत कुलों का उल्लेख पुराणेतिहास ग्रन्थों में मिलता है, पर केशिक और आरभट जातियों की चर्चा कहीं नहीं मिलती। फिर इसका भी क्या प्रमाण है कि यह वृत्तियाँ तत्तत् जातियों द्वारा प्रयुक्त अथवा विकसित की गई थीं। कैशिकी वृत्ति के विषय में यह कल्पना की जा सकती है कि इसका अभिनय करने के लिये ब्रह्माजी ने जिन अप्सराओं की सृष्टि

की थी उनमें से प्रथम तीन के नाम मञ्जुकेशी, सुकेशी और मिश्रकेशी हैं; ऐसा तो नहीं है कि इन्हीं—केशियों के आकर्षक अभिनय के कारण शृङ्गारात्मक अभिनय की वृत्ति का नाम कैशिकी पड़ गया है। आरभट साहसी व्यक्ति को कहते हैं इसी कारण साहसपूर्ण कृत्यों के अभिनय में आरभटी वृत्ति का प्रयोग होता है। भारती वृत्ति का नाम भरत के पुत्रों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण पड़ा हो, यह भी संभव है। सात्वत विष्णु भगवान् का नाम है जो त्रिदेवों में सत्वगुणविशिष्ट माने जाते हैं, अतएव सात्वती वृत्ति में भी सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। यों सात्वत नाम यादव जाति का भी है।

नाट्यस्य ग्रहणं प्राप्तं ब्रूहि किं करवाण्यहम्।
एतत्तु वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पितामहः ॥५३॥

(मैंने उनसे कहा) कि (आपके आदेशानुसार) नाट्य का ग्रहण (=सीखना) हो चुका; अब आप कहिये मैं क्या करूँ ? यह वचन सुन कर पितामह ब्रह्माजी ने उत्तर दिया।

महानयं प्रयोगस्य[1] समयः[2] समुपस्थितः।
अयं ध्वजमहः श्रीमान्महेन्द्रस्य प्रवर्तते ॥५४॥
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम्।

"(इसके) अभिनय का यह महान् अवसर उपस्थित है। महेन्द्र का यह शोभापूर्ण ध्वजमहोत्सव चल रहा है। इस समय में इस महोत्सव में ही इस नाट्य नामक वेद का प्रयोग (=अभिनय) किया जाना चाहिये।

[१ प्रयोगश्च=और प्रयोग। समया=उचित समय पर।]

वि० इन्द्रध्वज अथवा ध्वजोत्थान नामक महोत्सव, असुरों पर इन्द्र की विजय के उपलक्ष में, भाद्रपद की शुक्ला द्वादशी को मनाया जाता है। प्राचीन काल में यह उत्सव बहुत जनप्रिय था। इन्द्रमख और इन्द्र-मह दोनों शब्द संस्कृत में उपलब्ध होते हैं अतएव यह शब्द मख का ही रूपान्तर माना जा सकता है और इसी आधार पर ध्वजमह भी

ध्वजमख का ही दूसरा रूप है। प्राचीन काल के यज्ञ और मख उत्सव रूप ही होते थे। यज्ञ शब्द का आवेस्ता और फ़ारसी रूप यस्न और जश्न इसी तथ्य को सूचित करता है।

ततस्तस्मिन् ध्वजमहे निहता[1]सुरदानवे[2] ॥५५॥
प्रहृष्टामरसङ्कीर्णे महेन्द्रविजयोत्सवे।
नान्दी[3] कृता मया पूर्वमाशी[4]र्वचनसंयुता ॥५६॥

तब असुरों तथा दानवों के निहत होने पर मनाए जानेवाले उस ध्वजमहोत्सव में, जो कि इन्द्र की विजय का उत्सव था एवं जो आनंदित अमरों (देवताओं) से भरा हुआ था, मेरे द्वारा आशीर्वादात्मक वचनों से युक्त नान्दी सबसे पहले की (पढ़ी) गई।

[१ निहत्य = मारकर। २ दानवै :—यह पाठान्तर अशुद्ध और निरर्थक है। ३ पूर्वं कृतामया नान्दी = (अर्थ के लिए उपर्युक्त भावार्थ देखो।) ४ ह्याशी।]

वि० नान्दी की परिभाषा नाट्यशास्त्र के पाँचवें अध्याय के २४, और १०७ श्लोक में इस प्रकार दी हुई है—

आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥५।२४॥
सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः।
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलंकृताम् ॥५।१०७॥

क्योंकि देवताओं, ब्राह्मणों और राजाओं के आशीर्वचन से युक्त (शुभाशंसा के पद्य) नाटक के आरम्भ में नित्य पढ़े जाते हैं (और उनसे सबको आनन्द होता है) अतएव उनको नान्दी नाम दिया गया है। सूत्रधार को चाहिए कि वह नाटक के आरम्भ में १२ अथवा ८ पदों (शब्दों अथवा वाक्यों) वाली अलंकृत नान्दी को मध्यम स्वर से पढ़े।

अष्टाङ्गपदसंयुक्ता विचित्रा वेदनिर्मिता।[1]
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा[2] यया दैत्याः सुरैर्जिता ॥५७॥

(भरत कहते हैं कि मेरे द्वारा पठित नान्दी) वेद से निर्मित, विचित्र

आठ अंगोंवाले पदों से युक्त थी। नान्दी के अन्त में जिस प्रकार (के कार्यकलाप से) दैत्य देवताओं के द्वारा जीते गये थे उसका अनुकरण किया गया।

[१ देवसंमता = देवताओं को ठीक लगनेवाली। वेदसंमिता = वेदों के समान। २ तदन्ते तुकृतिः - उस नान्दी के अन्त में नाटक का कार्य।]

वि० इस श्लोक में नान्दी को "अष्टाङ्गपदसंयुक्ता" कहा गया है और ५।१०७ में उसको १२ अथवा आठ पदों से युक्त कहा गया है। प्रश्न यह है कि यहाँ 'पद' का अर्थ क्या है? एक व्याख्या के अनुसार पदों के आठ अंग हैं—१ नाम, २ आख्यात, ३ निपात, ४ उपसर्ग, ५ समास, ६ तद्धित, ७ सन्धि, ८ विभक्ति। ना० शा० के $\frac{१४}{१५}$।४ में इनको वाचिकाभिनय से सम्बद्ध बतलाया है। अतएव नान्दी के "अष्टाङ्गपदसंयुक्ता" का अर्थ कुछ भिन्न होना चाहिए। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल की नान्दी की टीका में अभिनवगुप्त का मत विस्तार के साथ उद्धृत किया है। इसके अनुसार पद के तीन प्रकार हो सकते हैं १—श्लोक के अवयव स्वरूप सुबंत (संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम इत्यादि) और तिङन्त (क्रियापद,) २ श्लोक का चतुर्थांश अथवा एक चरण, और ३—श्लोक के अवान्तर वाक्य। अभिनवगुप्त के मत में नाट्याचार्य का स्वरस तो अवान्तर वाक्य को ही पद मानना है। नान्दी की माप का एक दूसरा प्रकार ताल के अनुसार भी है। त्र्यस्रतालानुगता नान्दी त्रिपदा, षट्पदा और द्वादशपदा होती है तथा चतुरस्र-तालानुगता चतुष्पदा, अष्टपदा और षोडसदा होती है।

नान्दी शब्द की व्युत्पत्ति नाट्यप्रदीप में इस प्रकार की गई है—
नन्दन्ति काव्यानि कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः।
यस्मादलं सज्जनसिंधुहंसी तस्मादियं सा कथितेह नान्दी॥

क्योंकि इससे काव्य, कवीन्द्र, गायक, अभिनेता, एवं सामाजिक सब आनन्दित होते हैं अतः सज्जनसिन्धु की यह हंसी नान्दी कहलाती है। एक अन्य व्युत्पत्ति और सुनिए—

नन्दी वृषः कोऽपि महेश्वरस्य रङ्गत्वमादौ किल खे जगाम।
तद्रङ्गमुद्दिश्य कृतां तु पूजां नान्दीति तां नाट्यविदोवदन्ति॥

महेश्वर भगवान् का कोई नन्दी नामक वृषभ (बैल) सबसे आदि में स्वर्ग (आकाश) में रङ्गभाव को प्राप्त हो गया था। उस रङ्गस्थल के उद्देश्य से की गई पूजा को नाट्यविद् लोग नान्दी कहते हैं।

पर सीधी-साधी सरल और समुचित व्युत्पत्ति है "नन्दन्ति देवा अत्र" अथवा "नन्दन्ति देवता यस्यां" (नन्द + घञ् + ङीप्) इति नान्दी। जिसमें देवता (देव = इन्द्रादि, भूदेव = ब्राह्मण, नृदेव = राजा) आनन्दित होते हों वह नान्दी। इन आनन्दित होनेवालों में हम कवियों, अभिनेताओं तथा सामाजिकों को भी सम्मिलित कर सकते हैं।

संफेटविद्रवकृता छेद्यभेद्याहवात्मिका।[1]
ततो ब्रह्मादयो देवा प्रयोगपरितोषिताः ॥५८॥

यह अनुकरण तुमुलनादपूर्ण युद्ध एवं पलायन से युक्त था और मार-काट तथा युद्ध करने के लिए आह्वान (चुनौती, चैलेञ्ज) वाला था। तब ब्रह्मादि देवता इस प्रयोग (= अभिनय) परितोषित हुए।

[१ रवात्मिका = शब्द से युक्त।]

वि० संफेट की परिभाषा नाट्यशास्त्र में निम्नलिखित है—

रोषग्रथितवाक्यं तु संफेटः परिकीर्तितः ॥१९।८८॥

अर्थात् रोष के कारण जिस वाक्य की रचना होती है उसको संफेट कहते हैं। परिकीर्तितः के स्थान दूसरा पाठ "स उदाहृतः" है। इससे अर्थ में अन्तर नहीं आता।

विद्रव का वर्णन नाट्यशास्त्र में दो स्थानों पर हुआ है। यथा—

नृपाग्निभयसंयुक्तः संभवो विद्रवः स्मृतः ॥१९।८७॥
तथा गुरुव्यतिक्रमो यस्तु विज्ञेयोऽभिद्रवस्तु सः ॥१९।८९॥

अर्थात् राजा और अग्नि के भय से भगदड़ मच जाना विद्रव कहलाता है तथा अपने बड़ों का तिरस्कार उनके वचनों का न मानना अभिद्रव कहा जाता है। काशीवाली पुस्तक में दोनों स्थानों पर "द्रवः" ही

मिलता है। अन्य पाठान्तर इस प्रकार हैं "शंकाभयत्रासकृतो विद्रवः समुदाहृतः" (शङ्का, भय और त्रास से उत्पन्न भगदड़ विद्रव कहलाता है। तथा "द्रव एव हि विद्रवः" द्रव को ही विद्रव कहते हैं। पश्चात्कालीन लेखकों के अनुसार १६।८७ विद्रव की परिभाषा है, तथा १६।८६ द्रव की।

प्रदद्हृष्टमनसः[1] सर्वोपकरणानि नः[2] ।
प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान्[3] स्वधजं[4] शुभम् ॥५९॥
ब्रह्मा कुटिलकं[5] चैव भृङ्गारं वरुणस्तथा ।
सूर्यश्छत्रं शिव[6] सिद्धिं वायुर्व्यजनमेव च ॥६०॥
विष्णुः सिंहासनं चैव कुबेरो मुकुटं[7] तथा ।
श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती ॥६१॥
शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
तस्मिन्सदस्यतिप्रीता[8] नानाजातिगुणाश्रयान्[10] ॥६२॥
अंशांशैर्भाषितान्[11] भावान्रसान् रूपं[12] वलं तथा ।
प्रद[13]दुर्मत्सुतेभ्यश्च चित्रमाभरणं बहु ॥६३॥

(उन ब्रह्मादि देवताओं ने) प्रसन्न मन होकर हमको सब प्रकार के उपकरण (सामान) दिये। प्रथम प्रसन्न हुए इन्द्र ने अपना शुभ ध्वज दिया। ब्रह्मा ने कुटिलक, वरुण ने सोने की झारी, सूर्य ने छत्र, शिव ने सिद्धि, वायु ने व्यजन (पंखा), विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट तथा देवी सरस्वती ने प्रेक्षणीय (नाटक के तमाशे) को श्राव्यत्व (सुने जाने का सौष्ठव) प्रदान किया। इसके अतिरिक्त उस सभा में जो शेष अन्य देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पन्नग थे उन्होंने अति प्रसन्न होने के कारण, अपने-अपने अंशों से उत्पन्न किये हुए अनेकों जाति और गुणोंवाले भावों, रसों, रूप, बल तथा बहुत से आभरणों को मेरे पुत्रों को प्रदान किया।

[१ प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु = मेरे पुत्रों को दिया। २ वै। ३ दत्तस्तु = दिया। ४ स्वं ध्वजं। ध्वजमुत्तमम् = उत्तम ध्वज को। ५ कमण्डलुम् = जलपात्र को। ६ शिवा = पार्वती ने। ७ मकुटं = मुकुट। ८ यह पद्यार्द्ध

कुछ पुस्तकों में है ही नहीं और कुछ में इसको प्रक्षिप्त कहा गया है। ९ प्रीतान् (वि०) कर्म कारक। १० गणाश्रया=समूहोंवाले। ११ भाषितान्=वाणियों अथवा भाषणों के। अथवा भाषितं=वाणी या भाषण। १२ रूपबलिं क्रियाम्=रूप की बलि (भेंट) तथा क्रिया को। रूपं क्रियाबलम्=रूप और कार्य करने की शक्ति। १३ दत्तवन्तः प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकसः=उन देवताओं ने प्रहर्षित होकर मेरे पुत्रों को प्रदान किये।]

वि० कुटिलक का अर्थ अभिनवगुप्त ने टेढ़ा-मेढ़ा दण्ड किया है जिसका प्रयोग विदूषक के द्वारा किया जाता था। नाट्यशास्त्र के २१/२३ । १७३/१७० में कपित्थ अथवा बिल्व के दण्डकाष्ठ का वर्णन आया है जो त्रिवक्र कहा गया है। पर वहाँ यह नहीं कहा गया है कि यह विदूषक के प्रयोग के लिए बनाया जाता है।

"नानाजातिगुणाश्रया" पद "यक्षराक्षसपन्नगा" का विशेषण भी हो सकता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा "अनेकों जाति और गुणोंवाले यक्ष, राक्षस और पन्नग (=नाग)।"

एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्यदानवनाशने।
अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये तत्र संगताः ॥९४॥

दैत्य और दानवों को नाश करने के अभिनय के इस प्रकार आरम्भ होने पर वे सब दैत्य जो वहाँ आकर एकत्रित हुए थे, क्षुभित हो गये अर्थात् भड़क उठे।

[१ अथासुराश्चाभितोऽस्य ये तत्रासन् समागताः=इसके पश्चात् वे असुर जो वहाँ इस प्रयोग के चारों ओर आकर इकट्ठे हो गये थे—। दूसरा पाठान्तर इस प्रकार है। अथासुरांश्चाभितोष्य ये तत्रासन् समागताः=इसके अनन्तर उन असुरों को सन्तुष्ट करके जो वहाँ आये हुए थे।]

विरूपाक्षपुरोगांस्तु[1] विघ्नानुत्साद्य[2] तेऽब्रुवन्।
नेत्थमिच्छामहे[3] नाट्यमेतदागम्यतामिति ॥९५॥

उन दैत्यों ने विरूपाक्ष जिनका अगुआ है ऐसे बहुत से विघ्नों को उकसा कर कहा कि हम इस नाटक को इस प्रकार का नहीं चाहते; सब को यहाँ से चले आना चाहिए।

[१ विरूपाक्षपुरोगाः—विरूपाक्ष जिनका अग्रणी है ऐसे उन दैत्यों ने। २ प्रोत्साद्य=उठा कर। प्रोत्साह्य=प्रोत्साहित करके। ३ इष्यामहे=इच्छा करते हैं।]

वि० विरूपाक्ष सामान्यतया शंकर को कहते हैं पर यहाँ तो यह किसी विघ्न अथवा दैत्य का नाम प्रतीत होता है। विघ्न शब्द का अर्थ यहाँ विघ्नकारी दुरात्मा है।

ततस्तैरसुरैःसार्द्धविघ्ना मायामु[१]पाश्रिताः।
वचश्चेष्टां[२] स्मृतिं चैव स्तम्भयन्तिस्मनृत्यताम् ॥६६॥

तब माया (छल) पर आश्रित विघ्नों ने उन असुरों के साथ मिलकर नृत्य करते हुए, (अभिनेताओं) की वाणी, चेष्टा और स्मृति को स्तम्भित (रुद्ध) कर दिया।

[१ विघ्नमाया=विघ्नों की माया। २ वाचः=वाणियों को।]

एवं[१] विध्वंसितं[२] दृष्ट्वा सूत्रधारस्य[३] देवराट्।
कस्मात[४]प्रयोगवैष्यममित्युक्त्वा ध्यानमाविशत् ॥६७॥

इस प्रकार अभिनय को विध्वंसित हुआ देखकर, तथा सूत्रधार से यह कहकर कि अभिनय में यह वैषम्य (विघ्न) किस कारण हुआ, इन्द्र (विघ्न का कारण जानने के लिए) ध्यानावस्थित हो गया।

[१ तथा=उस प्रकार से। २ विध्वंसनम्=विनाश। ३ तत्र तस्य स=वह वहाँ उसका। ४ तस्मात्=इसलिए।

अथापश्यत्सदो[१] विघ्नैः समन्तात्परिवारितम्।
सहेतरैः सूत्रधारं नष्टसंज्ञं जडीकृतम् ॥६८॥

(ध्यान लगाने के) उपरान्त उसने सभा को सब ओर से विघ्न से घिरा हुआ तथा अन्य (अभिनेताओं) के साथ सूत्रधार को चेतनारहित और निश्चेष्ठ हुआ देखा।

[१ तदा = तव ।]

अथोत्थाय द्रुतं क्रोधाद्दिव्यं जग्राह स ध्वजम्[१] ।
सर्वरत्नोज्ज्वलतनुः[२] किंचिदुद्वृत्तलोचनः ॥६९॥
रङ्गपीठगतान्विघ्नानसुरांश्चैव देवराट् ।
जर्जरीकृतदेहांस्तानकरोज्जर्जरेण सः ॥७०॥

इसके उपरान्त इन्द्र ने शीघ्रतापूर्वक उठकर क्रोध से उस दिव्यध्वज को ग्रहण कर लिया। सब प्रकार के रत्नों से जिसका शरीर उज्ज्वल था; तथा (क्रोध से) जिसके नेत्र कुछ ऊपर को चढ़े हुए थे ऐसे उस देवराज इन्द्र ने उस जर्ज्जरध्वज से रङ्गपीठ पर पहुँचे हुए विघ्नों और असुरों को जर्जरित देहवाला कर दिया।

[१ उत्थाय त्वरितं शक्रः क्रोधाज्जग्राह तं ध्वजम् = इन्द्र ने शीघ्रता से उठकर क्रोधपूर्वक उस ध्वज को हाथ में ले लिया। २ सवरत्नोज्वलन्तं तु = सब रत्नों (की आभा) से उज्ज्वल उस ध्वज को।]

निहतेषु तु सर्वेषु विघ्नेषु सह दानवैः ।
संप्रहृष्य[१] ततो वाक्यमाहुः सर्वे दिवौकसः ॥७१॥

दानवों के सहित सब विघ्नों के मारे जाने पर सब देवताओं ने प्रसन्न होकर यह वचन कहे।

[१ संप्रदास्य = ?]

अहो प्रहरणं दिव्यमिदमासादितं त्वया ।
जर्ज्जरीकृतसर्वाङ्गा[१] येनैते[२] दानवाः कृताः ॥७२॥
यस्मादनेन[३]ते विघ्नाः सासुरा जर्ज्जरीकृताः ।
तस्माज्जर्जर एवेति नामतोऽयं भविष्यति ॥६३॥

हे भरत! यह तो तुम्हारे द्वारा एक दिव्याशस्त्र प्राप्त कर लिया गया, जिसके द्वारा यह दानव सब अंगों में जर्जरित (झोझरे) कर दिये गये। क्योंकि इसके द्वारा असुरों समेत तुम्हारे सब विघ्न जर्जर (नष्ट) कर दिये गये, इसलिए यह 'जर्जर' नाम से ही विख्यात होगा।

[१ नाट्यविध्वंसिनः सर्वे = नाट्य को विध्वंस करनेवाले सब। २

येन ते = जिसके द्वारा वे। ३ नाट्यविध्वंसिनः सर्वे येन ते जर्जरीकृताः = जिसके द्वारा तुम्हारे नाट्य को विध्वंस करनेवाले सब जर्जर (नष्ट) कर दिये गये हैं। ४ इत्येव = ऐसा ही।]

शेषाः ये चैव विघ्नार्थमुपस्थास्यन्ति विघ्नकाः[१]।
दृष्ट्वैव जर्जरं तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेव तु ॥७४॥

शेष बचे हुए जो कोई विघ्न (नाट्य में) विघ्न करने के लिए (भविष्य में) उपस्थित होंगे वह भी इस जर्जर को देखते ही ऐसी ही अवस्था को प्राप्त हो जाएँगे (= नष्ट हो जाएँगे)।

[१ हिंसार्थमुपयास्यन्ति हिंसकाः = जो नाट्य की हिंसा करने वाले हिंसा के लिए पास आएँगे।]

एवमेवास्त्विति ततः शक्रः प्रोवाच तान्सुरान्।
रक्षाभूतस्तु सर्वेषां भविष्यत्येष[१] जर्जरः ॥७५॥

तब इन्द्र ने उन देवताओं से कहा कि ऐसा ही हो। यह जर्जर सब (अभिनय करनेवालों) के लिए रक्षारूप होगा।

[१ एव = ही।]

वि० जर्जर के निर्माण और पूजा की विधि नाट्यशास्त्र में आगे चलकर बतलाई गयी है। इसके निर्माण का वर्णन २३वें अध्याय में १६१ श्लोक से लेकर १७० में किया गया है। जर्जर के लिये बाँस को श्रेष्ट माना गया है। इसकी लम्बाई १०८ अङ्गुल होनी चाहिए, तथा इसमें पाँच पर्व और चार ग्रन्थि होनी आवश्यक हैं। जो विधि और क्रम महेन्द्र ध्वज के लिये विहित है वही विधि और क्रम जर्जर के लिये भी। जर्जर की पूजा का विधान ३रे अध्याय में ७४वें श्लोक से लेकर ८२वें श्लोक तक बतलाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ में नाटक खुले आकाश के नीचे खेले जाते रहे होंगे अतएव उद्दण्ड दर्शकों के नियम के लिये जर्जर की व्यवस्था करनी पड़ी होगी। पर सुव्यवस्थित नाट्यग्राहों के निर्माण के पश्चात् जर्जर एक रीतिमात्र (कन्वेंशन) की वस्तु रह गया होगा। नाट्यारंभ के पूर्व यह मंच के सामने स्थित रहता

होगा और इसको हटाने पर नाट्यारंभ की सूचना मिलती होगी। नाट्यशास्त्र के २७वें अध्याय के ३४वें श्लोक में बतलाया गया है प्राश्निक (आलोचक) अपना कार्य जर्जरमोक्ष के अन्त से आरंभ करें।

इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि जर्जर बाँस की चोट चमड़ी को भी नोच तथा काट कर शरीर को क्षतविक्षत अवश्य कर सकती है।

प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फीते शक्रमहे[1] पुनः।
त्रासं सञ्जनयन्तिस्म विघ्नाः शेषास्तु[2] नृत्यताम् ॥ ७६ ॥

इस प्रकार इन्द्र के सुसमृद्ध महोत्सव के अवसर पर नाट्याभिनय के पुनः प्रस्तुत किये जाने पर बचे हुए विघ्नों ने अभिनय करनेवालों के लिए त्रास उत्पन्न की।

[१ शक्रसदे पुरे = इन्द्र की सभा के पुर में ? २ मद्वधबुद्धयः = मेरे मारने की बुद्धिवालों ने।]

दृट्वा तेषां व्यवसितं दैत्या[1]नां विघ्नकारकम्
उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं सुतैः सर्वैः समन्वितः ॥ ७७ ॥

उन दैत्यों के इस विघ्नकारक उद्योग को देखकर मैं (भरत) अपने सब पुत्रों के सहित ब्रह्मा जी के समीप उपस्थित हुआ।

[१मदर्थे विप्रकारजम् = मेरे लिये, आर्थात् मेरे कार्य के लिये बिगाड़ करनेवाले।]

वि० व्यवसित का अर्थ निश्चित संकल्पपूर्वक किया हुआ उद्योग अथवा प्रयत्न है।

निश्चिता[1] भगवन्विघ्ना नाट्यस्यास्य विनाशने।
अतो[2] रक्षाविधिं[3] सम्यगाज्ञापय सुरेश्वर ॥ ७८ ॥

हे भगवन्! विघ्न इस नाट्य का विनाश करने का निश्चय किये हुए हैं; अतः हे सुरेश्वर (= ब्रह्माजी) इसकी रक्षा की विधि का भली प्रकार से आदेश कीजिये।

[१ निःसृताः = निकल पड़े हैं। २ = अस्य = इस (नाट्य) की। ३ विधिः = प्रकार, उपाय।]

[1]ततस्तु विश्वकर्माणमाह ब्रह्मा प्रयत्नतः।
कुरु[2] लक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म महामते[3] ॥ ७९ ॥

तब ब्रह्माजी ने विश्कर्मा से कहा, "हे महान् मति वाले विश्वकर्मन् तुम (शुभ) लक्षणों से संपन्न नाट्यशाला (नाटकघर, थिएटर को बनाओ।"

[१ (क) ततश्च विश्वकर्माणं ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः = तब ब्रह्माजी ने विश्वकर्मा से कहा कि तुम प्रयत्न...से (ख) ततः स विश्वकर्माणं ब्रह्मोवाच प्रयत्नतः = तब उन ब्रह्माजी ने विश्वकर्मा से कहा कि तुम प्रयत्न से...। २ गुरु = विशाल, महान्, भारी। ३ चकार सः = उसने बनाया।

वि० विश्वकर्मा देवताओं के वास्तुकार हैं। यद्यपि उनका नाम ऋग्वेद तक में पाया जाता है तथापि उनके कार्यों की कथाएँ पुराणों में ही अधिक मिलती हैं।

ततोऽचिरेण[1] कालेन विश्वकर्मा शुभं महत्[2]।
सर्वलक्षणसंपन्नं[3] कृत्वा नाट्यगृहं तु सः[4] ॥ ८० ॥
प्रोक्तवान् द्रुहिणं नत्वा सभायां तु कृताञ्जलिः।
सज्जं नाट्यगृहं देव तदवेक्षितुमर्हति ॥ ८१ ॥

तब थोड़े ही से समय में विश्वकर्मा ने शुभ, सब अच्छे लक्षणों से संपन्न और महान् नाट्यगृह की रचना करके तथा ब्रह्माजी की सभा में जाकर हाथ जोड़कर कहा "हे देव! नाट्यगृह सज्जित किया हुआ तैयार हो चुका है, आपको उसे देख लेना चाहिए।"

[१. अस्सीवें श्लोक का पूर्वार्द्ध कुछ पुस्तकों में नहीं है। २ महच्छुभम् पाठ तो शुभं महत् का ही रूपान्तर है। ३ कृत्वा यथोक्तमेवं तु गृहं पद्मोद्भवाज्ञया" = इस प्रकार कमल से उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजी की आज्ञा से उनके कहने के अनुसार नाट्यगृह रचकर। ४ नाट्यवेश्म चकार सः = उस (विश्वकर्मा) ने नाटकघर बनाया।]

ततः सह महेन्द्रेण सुरैः सर्वैश्च सेतरैः[१]।
अगच्छ[२]त्त्वरितो द्रष्टुं द्रुहिणो नाट्यमण्डपम् ॥ ८२ ॥
दृष्ट्वा नाट्यगृहं ब्रह्मा प्राह सर्वान् सुराँस्ततः।
अंशभागैर्भवद्भिस्तु रक्ष्योऽयं नाट्यमण्डपः ॥ ८३ ॥

इसके पश्चात् महेन्द्र तथा अन्य सब देवताओं के साथ ब्रह्माजी शीघ्रतापूर्वक नाट्य-मण्डप को देखने के लिये गये। नाट्यगृह को देखकर ब्रह्माजी ने सब देवताओं से कहा "अंश अंश करके इस नाट्यमंडप की रक्षा आप लोगों के द्वारा की जानी चाहिए।

[१. सत्तमैः=सबसे अच्छे (देवताओं) के साथ। २ आगच्छत् अथवा आगतः=आया।]

वि० अंशभागैः का तात्पर्य यह है कि यह नाट्यमण्डप रक्षा के निमित्त कतिपय अंशों में विभक्त किया जाय और प्रत्येक अंश की रक्षा एक एक देवता करे।

रक्षणे मण्डपस्यास्य[१] विनियुक्तस्तु[२] चन्द्रमाः।
यथादिग्लोकपालाश्च[३] विदिक्ष्वपि च मारुताः॥ ८४ ॥
नेपथ्यभूमौ मित्रस्तु निक्षिप्तो वरुणोऽम्बरे[४]।
वेदिकारक्षणे[५] वह्निर्भाण्डे सर्वदिवौकसः ॥ ८५ ॥
वर्णाश्चत्वार एवास्य[६] स्तम्भेषु विनियोजिताः।
आदित्याश्चैव रुद्राश्च न्यस्ताः[७] स्तम्भान्तरेषु च ॥ ८६ ॥
धारणे (णी) ष्वथ[८] भूतानि शालास्वप्सरसस्तथा।
सर्ववेश्मसु यक्षिण्यो महीपृष्ठे महोदधि ॥ ८७ ॥

इस नाट्यगृह के मण्डप की रक्षा के लिए चन्द्रमा को विशेषतया नियुक्त किया गया, जो जिस दिशा का लोकपाल था वह नाट्यगृह की उसी दिशा की रक्षा के लिये नियुक्त किया गया, और विदिशाओं में मरुतों की नियुक्ति की गई। नेपथ्यभूमि में मित्र को रख दिया गया, अम्बर (खाली आकाश) में वरुण को। वेदिका की रक्षा में अग्नि तथा भाण्डों की रक्षा के लिये सब देवता (विश्वेदेवाः) नियुक्त कर दिये गये। चारों

वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) इसके स्तम्भों के पास विशेष प्रकार से नियोजित कर दिये गये, तथा आदित्य और रुद्र स्तम्भों के मध्यवर्ती भागों में स्थापित कर दिये गये। धारणों अथवा धारणियों के में भूतों को तथा शालाओं (बड़े कमरों में) अप्सराओं, सब गृहों में यक्षिणियों को एवं पृथ्वीतल पर महोदधि को नियुक्त किया गया।

[१ अथ = इसके पश्चात्। २ नियुक्तो रजनीकरः = चन्द्रमा नियुक्त किया गया। ३ लोकपालास्तथा दिक्षु = और लोकपाल दिशाओं में। ४ वरुणेश्वरः = बरुणेश्वर। ५ वेदिकां पावकःपातुं भाण्डं सर्वे दिवौकसः = अग्नि वेदिका की रक्षा करने के लिये तथा सब देवता भाण्ड की रक्षा के लिये। ६ अथ = और, या इसके पश्चात्। ७ स्थिताः स्तम्भान्तरेष्वथ = इसके पश्चात् स्तम्भों के मध्य भागों में स्थापित हुए। ८ धारणीषु (धरणीषु) स्थिताः भूतः = धारणियों अथवा धरणियों में भूत (रक्षा के निमित्त) स्थित हुए।]

वि० नाट्यगृह (थियेटर) की निर्माण विधि का वर्णन विस्तार पूर्वक दूसरे अध्याय में किया गया है। अतएव नाट्यगृह के विविध अंगों का विस्तृत विवरण भी वहीं दिया जायेगा।

चार दिशाएँ है पूर्व, उत्तर, पश्चिम, और दक्षिण, इसी प्रकार विदिशाएँ हैं आग्नेयी, नैऋती वायवी और ऐशानी। इनके दिक्पाल इन्द्र, कुबेर, वरुण, यम, अग्नि, निऋति, वायु और ईशान हैं

भाण्ड वाद्ययंत्रों को भी कहते हैं तथा मूल्यवान सम्पत्ति को भी।

रुद्रों की संख्या है ११ और आदित्यों की १२।

धारणी, धारण अथवा धरणी का अर्थ शहतीर, पुश्ता अथवा बाँह (कौनी) हो सकता है।

८६वें श्लोक में चार वर्ण (वर्णाश्चत्वारः) आया है। चार वर्णों के अभिमानी देवता तो अज्ञात ही हैं अतएव इन वर्णों से "रंगों के देवता" ऐसा अर्थ नहीं किया जाना चाहिए। दूसरे अध्याय में इन स्तम्भों को

स्पष्टतया चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र) से संबंध रखनेवाला कहा गया है। हमने इसी के अनुसार अर्थ किया है।

द्वारशालानियुक्तस्तु[1] कृतान्तः कालएव च।
स्थापितौ द्वारपार्श्वेतु[2] नागराजौ[3] महाबलौ[4] ॥ ८८ ॥

द्वारशाला (अर्थात् दहलीज) में तो कृतान्त काल को ही नियुक्त किया गया तथा द्वार के पार्श्वों में महा बलशाली दो नागराजों (अनन्त और वासुकि अथवा हाथियों) को।

[१ द्वारशाला (शाखा) नियुक्तौ = द्वारशाला (शाखा) की नियुक्ति में। २ द्वारपात्रेषु = किवाड़ों में। ३ नागमुख्यौ = दो मुख्य सर्प अथवा हाथी। ४ महाखलौ = बड़े दुष्ट, बड़े लड़नेवाले अथवा बड़े कुचलनेवाले।]

देहल्यां[1] यमदण्डस्तु शूलं तस्योपरिस्थितम्[2]।
द्वारपालौ स्थितौ चोभौ नियतिर्मृत्युरेव च ॥८९॥
पार्श्वे च[3] रङ्गपीठस्य महेन्द्रः स्थितवान्स्वयम्।
स्थापित्ता मत्तवारण्यां विद्युद्दैत्यनिषूदिनी[4] ॥९०॥
स्तम्भेषु मत्तवारण्याः स्थापिता परिरक्षणे[5]।
भूतयक्षपिशाचाश्च[6] गुह्यकाश्च महाबलाः ॥९१॥
जर्जरे तु[7] विनिक्षिप्तं वज्रं दैत्यनिबर्हणम्।
तत्पर्वसु विनिक्षिप्ताः सुरेन्द्रा ह्यमितौजसा ॥९२॥

देहली पर यमदण्ड नियुक्त किया गया और उसके ऊपर शूल (= शिव का त्रिशूल) स्थित हुआ। नियति (अटल भाग्य अथवा भवितव्यता) और मृत्यु दोनों ही द्वारपाल के रूप में स्थित हुए। रङ्गपीठ के पार्श्व (बगल) में स्वयं महेन्द्र स्थित हुआ। मत्तवारणी में दैत्यों को नष्ट करनेवाली बिजली स्थापित की गई। मत्तवारणी के स्तम्भों पर उनकी रक्षा के लिए महा बलशाली गुह्यक स्थापित किये गये। दैत्यों को मारनेवाला वज्र जर्जर के ऊपर डाल दिया गया तथा उसके पर्वों (पोरों) पर अपरिमित शक्तिवाले श्रेष्ठ देवता स्थापित कर दिये गये।

[१ देहल्याय महेन्द्रस्तु = देहल्य की रक्षा के निमित्त महेन्द्र। २

चोपरि स्थितम् = और ऊपर स्थित हुआ । ३ तु = तो । ४ निषूदनी = नाश करनेवाली । ५ परिपालने = परिपालन (= रक्षण) करने के लिए । ६ भूतयक्षा = भूत और यक्ष । भूता यक्षा पिशाचश्च = भूत यक्ष और पिशाच। कुछ पुस्तकों में यहाँ यह श्लोकार्द्ध मिलता है—वीरभद्रोऽथ भगवान् गुह्यकाश्च तथैव च = उसी प्रकार भगवान् वीरभद्र (शिव की जटा से उत्पन्न) और गुह्यक (एक देव जाति) । ७ चैव विक्षिप्तम् = और डाल दिया गया ।]

वि० मत्तवारण अथवा मत्तवारणी के वास्तुशास्त्र में अनेक अर्थ हैं। यथा, (१) किसी बड़ी इमारत के चारों ओर का बाड़ा (फैन्स); (२) बड़े भवन के उपर का एक छोटा कमरा; (३) बरामडा; (४) पैवीलियन् यहाँ तीसरा अर्थ उपयुक्त प्रतीत है। दूसरे अध्याय में भी इस प्रसंग को देखना चाहिए।

शिरःपर्वस्थितो[1] ब्रह्मा द्वितीये शङ्करस्तथा।
तृतीये च[2] स्थितो विष्णुश्चतुर्थे स्कन्द एवच ॥९३॥
पञ्चमे च महानागाः[3] शेषवासुकितक्षकाः।
एवं विघ्नविनाशाय स्थापिताः जर्जरे सुराः[4] ॥९४॥

जर्जर की शिर की पोरी में ब्रह्मा स्थित हुए; दूसरी में शिव, तीसरी में विष्णु स्थित हुए, चौथी में (देवताओं के सेनापति) स्कन्द ही (अकेले) और पाँचवीं में शेष, वासुकि और तक्षक नामक महानाग स्थित हुए। इस प्रकार विघ्नों का विनाश करने के लिए देवता जर्जर में स्थापित हुए।

[१ शिरःपार्श्वे = शिर के पास। शिरः पर्वास्थितो = शिर की पोरी पर भली भाँति स्थित हुआ। २ भगवान् = विष्णु भगवान्। ३ महाभागाः = बड़े भाग्यशाली। ४ जर्जरेश्वराः = जर्जर के ईश्वर या शासक।]

रङ्गपीठस्य मध्ये तु स्वयं ब्रह्माप्रतिष्ठितः।
इत्यर्थं[1] रङ्गमध्ये तु क्रियते पुष्पमोक्षणम् ॥९५॥

रङ्गपीठ (स्टेज) के मध्य में स्वयं ब्रह्मा प्रतिष्ठित हुए। इसी लिये (नाट्यारंभ में) रङ्ग के मध्यभाग में पुष्पों को चढ़ाया जाता है।

[१ इष्ट्यर्थम्=यज्ञ (अथवा ब्राह्मा के पूजन) के लिये।]

पातालवासिनो ये च यक्षगुह्यकपन्नगाः।
अधस्ताद् रङ्गपीठस्य रक्षणे विनियोजिताः[१] ॥ ९६ ॥

और जो पताल में निवास करनेवाले यक्ष, गुह्यक और पन्नग (=सर्प) हैं वे रङ्गपीठ की रक्षा के लिए विशेषरूप से उसके नीचे नियोजित कर दिये गये।

[१ ते नियोजिताः=वे लगा दिये गये।]

वि० यक्ष, गुह्यक, नाग, पन्नग इत्यादि देवताओं की जातियाँ है।

नायकं रक्ष[१]तीन्द्रस्तु नायिकां तु सरस्वती।
विदूषकमथोङ्कारः शेषास्तु प्रकृतीर्हरः ॥ ९७ ॥

इन्द्र तो नायक की रक्षा करता है, सरस्वती नायिका की। विदूषक की रक्षा ओङ्कार करता है तथा शेष सामान्य पात्र और पात्रियों की रक्षा शिव करते हैं।

[१ रक्षतु=रक्षा करे]

यान्येतानि नियुक्तानि दैवतानीह रक्षणे।
एतेषामधिदेवास्तु[१] भविष्यन्तीत्युवाच सः ॥ ९८ ॥

यहाँ नाट्यगृह की रक्षा में जो दैवत (=देवता) नियुक्त किये हैं वे उन उन स्थानों के अधिदेव होंगे ऐसा उन्होंने कहा।

[१ एतान्ये वाधिदैवानि=यह ही इन पृथक् पृथक् स्थानों के अधिदैव (अधिकारी देवता) होंगे।]

वि० उपर्युक्त रक्षा-व्यवस्था में एक से अधिक देवताओं की स्थापना दोदो स्थानों पर हुई है। अतएव स्थापना का अर्थ शरीरतः एक स्थान पर स्थिति नहीं लगाना चाहिए। यही बात ९८वें श्लोक में स्पष्ट की गई है। जो देवता जिस स्थान का रक्षक है वह उस स्थान का अधिदेवता है ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये।

ब्रह्मा तो सारे विश्व के नाटक के रचयिता हैं; इस नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति भी उन्हीं की प्रतिभा से हुई है, अतः रङ्गपीठ में उनका केन्द्र-स्थान पर अधिष्ठित होना सर्वथा समीचीन है; क्योंकि नाटक भी तो ब्रह्माजी द्वारा रचे हुए विश्व की अनुकृति ही है। इन्द्रदेव वैदिक काल से ही देवनायक हैं अतः नाटक के नायक की रक्षा का भार उन पर होना समुचित है।

एतस्मिन्नन्तरे देवैः सर्वैरुक्तः पितामहः।
साम्ना तावदिमे विघ्नाः स्थाप्यन्तां वचसा त्वया ॥ ९९ ॥

इसी बीच में सब देवताओं के द्वारा पितामह से यह बात कही गयी कि यह विघ्न (प्रथम तो) आपके द्वारा शान्त वाणी से रोके जायँ।

पूर्वं साम प्रयोक्तव्यं द्वितीयं दानमेवतु।
तयोरुपरि भेदस्तु ततो दण्डः प्रयुज्यते[1] ॥ १०० ॥

(नीतियुक्त व्यवहार में) पहले साम (शांतिपूर्ण उपायों) का प्रयोग किया जाना चाहिए, दूसरे दान का, तदुपरान्त भेद (फूट डालने) का। दण्ड का प्रयोग इन तीनों के पश्चात् किया जाता है।

[१ प्रशस्यते=(सब उपायों की असफलता के अनन्तर दण्ड का प्रयोग) प्रशंसनीय माना जाता है।]

देवानां वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा विघ्नानु[1]वाच ह।
कथं[2] भवन्तो नाट्यस्य विनाशार्थमुपस्थिताः[3] ॥ १०१ ॥

देवताओं के वचन सुनकर ब्रह्मा जी ने विघ्नों से कहा—"आप क्यों कर नाटक का विनाश करने के लिए उपस्थित हुए हैं।"

[१ विष्णुमुवाच=विष्णु से बोले। (यह पाठ ठीक नहीं है।) वचनमब्रवीत्=वचन बोले। २ कस्मात्=किस कारण से। ३ विनाशाय समुत्थिताः=विनाश के लिए उठे हैं।]

वि० विघ्नों के विरुद्ध रक्षा की पूरी तैयारी कर लेने के उपरान्त भी उनके साथ साम का प्रयोग आदर्शवाद और व्यवहारिक यथार्थवाद का वांछनीय समन्वय सूचित करता है।

ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वाविरूपाक्षोऽब्रवीद्वचः[1] ।
दैत्यैर्विघ्नगणैः[2] सार्द्धं सामपूर्वमिदं वचः[3] ॥ १०२ ॥

ब्रह्मा जी के वचन को सुनकर विरूपाक्ष ने दैत्य और विघ्नों के समूह के साथ साम-(शान्ति-) पूर्वक यह वचन कहे।

[१ इदम् = यह। २ दैत्यैर्विष्णुगणैः = दैत्यों और विष्णु के गणों के साथ। ३ ततः = तब इसके पश्चात्।]

योऽयं भगवता सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं सुरार्थं भवताकृतः ॥ १०३ ॥

"आपने भगवान् ब्रह्मा जी के द्वारा जो यह नाट्यवेद देवताओं की इच्छा के अनुसार सर्वप्रथम रचा गया है, यह तो आपके द्वारा देवताओं के निमित्त हमारा निरादर (= निराकरण) ही किया गया है।"

वि० यह तो स्पष्ट ही है कि प्रथम अभिनय में देवताओं की विजय तथा दैत्यों की पराजय का अनुकरण किया गया था। अतएव उसमें दैत्यों के पक्ष की हीनता सूचित हुई थी। यह दैत्यों को खलनेवाली बात थी।

तन्नैतदेवं[1] कर्त्तव्यं त्वया लोकपितामहः।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्तः पूर्वविनिर्गताः[2] ॥ १०४ ॥

"हे (सब) लोकों के पितामह, आपके द्वारा तो यह ऐसा नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि सर्गारम्भ में जिस प्रकार आपसे देवता निकले (= उत्पन्न हुए) उसी प्रकार दैत्य।"

[१ तत्रैतदेवं = इस विषय में ऐसा यह। २ सर्वे विनिर्गताः = सब निकले (= उत्पन्न हुए)।]

विरूपाक्षवचः[1] श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत्।
अलं वो मन्युना दैत्या विषादस्त्यज्यतामयम्[2] ॥ १०५ ॥

विरूपाक्ष के वचन सुनकर ब्रह्मा जी यह वचन बोले, हे दैत्यों, आपका यह कोप व्यर्थ है; तथा आपके द्वारा यह विषाद त्याग दिया जाना चाहिए।

[१ विघ्नानां वचनं श्रुत्वा = विघ्नों के वचन को सुनकर। २ विषादं त्यजतानघ = हे निष्पाप (दैत्यों) तुम विषाद को त्याग दो।]

वि० १०१ श्लोक के उत्तरार्द्ध से लेकर १०५ के पूर्वार्द्ध तक का प्रसंग काशीवाले संस्करण में नहीं है।

"अलं वो मन्युना दैत्याः" का अर्थ 'दैत्यों आपका यह कोप व्यर्थ है किया गया है। इसका यह भी हो सकता है कि "दैत्यो आपका कोप बहुत हो चुका अब बस कीजिए।"

भवतां देवतानां[1] च[2] शुभाशुभविकल्पकः[3]।
कर्मभावान्वयापेक्षी[4] नाट्यवेदोमया कृतः ॥१०६॥

मेरे द्वारा जो यह नाट्यवेद रचा गया है यह आपके और देवताओं के दोनों ही के शुभ और अशुभ को निर्धारित करनेवाला तथा दोनों ही के कर्म और भावों के अनुगमन की अपेक्षा करनेवाला है।

[१ दैवतानां = देवताओं का। २ तु = तो। ३ विकल्पकैः = विकल्पों द्वारा। ४ अपेक्षः = अपेक्षा करनेवाला।]

वि० विकल्प का अर्थ विविधकल्पना अथवा विशेष कल्पना भी हो सकता है। ब्रह्माजी का तात्पर्य यह हो सकता है कि नाट्य में देवताओं और दैत्यों को विविध परिस्थितियों में स्थित हुआ कल्पना करके यह दिखलाया जाता है कि तत्तत्परिस्थियों में उनके कर्म और भाव किस प्रकार के होंगे। कल्पना के योग के कारण नाटक इतिहास से पृथक् वस्तु हो जाता है अतएव उसके सम्बन्ध में व्यक्तिगत अथवा जातिगत राग-द्वेष की भावना जाग्रत नहीं होनी चाहिए।

नैकान्ततोऽत्रभवतां देवानां चापि[1] भावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम् ॥१०७॥

यहाँ (= इस नाटक में) न तो केवल आप दैत्य लोगों का भावन (कल्पना द्वारा अनुकरण) हुआ (करता) है और न देवताओं का ही, प्रत्युत नाट्य तो इस समग्र त्रैलोक्य के भावों (अवस्थाओं) का अनुकीर्तन अथवा अनुकरण है।

क्वचिद्धर्मः[१] क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रमः[२]।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥१०८॥
धर्मो[३]धर्मप्रवृत्तानां काम:[४] कामार्थसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां[५] दमनक्रिया ॥१०९॥
क्लीवानां[६] धाष्टर्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबोधानां[७] विबोधश्च वैदग्ध्यं[८] विदुषामपि ॥११॥
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो[९] धृतिरु[१०]द्विग्नचेतसाम् ॥१११॥
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥११२॥

(इस नाट्य में) कहीं धर्म है, कहीं क्रीडा (=खेल) है, कहीं अर्थ (=राजनीति और अर्थनीति) है, कहीं श्रम है; कहीं हँसी है तो कहीं युद्ध है, कहीं काम है तो कहीं बध है। धर्म में प्रवृत्त होनेवालों का धर्म इसमें है, तथा काम और अर्थ के सेवन करनेवालों का काम भी इसी में है। दुर्विनीतों (उद्दण्ड और अनीति का आचरण करनेवालों) का निग्रह, तथा मत्तों को दमन करने की क्रिया भी इसमें है। नपुंसकों (तक) में यह धाष्ट्र्य उत्पन्न करनेवाला है और वीरमानियों को उत्साह देनेवाला है। यह अबोधों को विशेष बोध देनेवाला है और विद्वानों का भी वैदग्ध्य है। यह ईश्वरों का (ऐश्वर्यशाली प्रभुओं का) विलास है, तथा जो दुःख से पीड़ित है उसके चित्त को स्थिरता (ढारस) देनेवाला है; जो अर्थ पर आश्रित रहते हैं उनका यह अर्थ है एवं उद्विग्न (बेचैन) चित्तवालों को धैर्य बँधानेवाला है। (इस प्रकार से) यह जो नाट्य मेरे द्वारा बनाया गया है नाना प्रकार के भावों से उपसंपन्न (समन्वित) है, विविध प्रकार के अवस्थान्तर इसमें हैं तथा यह लोकवृत्त का अनुकरण करनेवाला है।

[(१) क्वचिद्बन्धः = कहीं बन्धन है; क्वचिद्द्वन्द्वः = कहीं झगड़ा है। (२) क्वचिच्छमः = कहीं शम (=शांति है)। पर पाठ चिन्त्य है, क्योंकि प्राचीन आचार्यों के समय से ही यह धारणा चली आई है कि नाट्यकार

भरत मुनि को शम नामक स्थायी भाव स्वीकार नहीं था। इस विषय में नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं :—

श्रृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥
६।१६ और १८॥

शम में सब वृत्तियाँ उपरत हो जाती हैं अतएव नाट्य में शम स्थायी और शान्तरस दोनों को ही स्वीकार नहीं किया गया है। इसी कारण हमने मूल में "शमः" के स्थान पर "श्रमः" को ही रक्खा है। (३) धर्माधर्म = धर्म और अधर्म में (इत्यादि)। (४) कामात् = काम से। (५) विनीतानां = विनीत किये हुओं का अथवा जितेन्द्रियों का। (६) क्लीवानामपि यूनां वा उत्साहेश्वरमानिनाम् = नपुंसकों अथवा युवकों का उत्साह वर्द्धक है। (७) प्रबुधानाम् = प्रकृष्ट (उत्तम) बोधवालों के लिए भी। (८) वैदुष्यम् = विद्वत्ता। (९) सर्वोपजीविनाम् = सब उपजीवियों (= दूसरों पर निर्भर रहनेवालों) का। (१०) यतिः = चित्त का वश में रखना।]

वि० उपर्युक्त पाँच श्लोकों में नाटक के स्वरूप, व्यवहारिक उपयोगिता एवं मनोज्ञशिक्षाप्रदता का वर्णन किया गया है। अभिनवगुप्त के मत में इन श्लोकों के धर्मादि शब्द स्थायी-भाव, व्यभिचारीभाव, अनुभाव इत्यादि के यथायोग सूचक हैं। ११२वें श्लोक में पुनः एक बार सूत्ररूप से बतलाया कि नाटक लोकवृत्त का—संसार अथवा मनुष्यों के व्यवहार का—अनुकरण है। ग्रीक साहित्य के प्रारम्भिक आचार्यों—अफलातून और अरिस्तू—ने भी सामान्यतया कला एवं काव्य मात्र को और विशेषतया नाटक को अनुकरणात्मक ही माना है। नाट्य-शास्त्र में यह अनुकृति और अनुकरण शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

काम शब्द का अर्थ प्रेम है। क्लीव शब्द का अर्थ नपुंसक अथवा

डरपोक है। प्राचीन काल में 'अर्थ' शब्द का आशय अधिक व्यापक था। राजनीति और अर्थनीति (पॉलिटिक्स और इकॉनामिक्स) दोनों का समावेश इसमें होता था। जो लोग राजनीति अथवा अर्थनीति के क्षेत्र में सफलता चाहते हैं नाट्य से उनको भी समुचित व्युत्पत्ति की प्राप्ति सम्भव है।

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत् (१) ॥११३॥

यह (नाट्य) उत्तम, नीच और मध्यम प्रकार के मनुष्यों के कर्म पर आश्रित है, हितकारक उपदेश को जन्म देनेवाला और धैर्य क्रीडा एवं सुख आदि उत्पन्न करनेवाला है।

[(१) नाट्यमेतद्भविष्यति = यह नाटक होगा।]

वि० नाटक कोरा गुरुवत् उपदेशप्रद ही नहीं होगा, उपयोगी ही नहीं होगा वह क्रीडात्मक एवं सुखप्रद होते हुए शिक्षाप्रद एवं उपयोगी भी होगा।

[एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद्भ[१]विष्यति॥]

यह नाट्य रसों, भावों, एवं सब कर्मों तथा क्रियाओं में (अथवा रसों, भावों इत्यादि के द्वारा) सब को (यथायोग्य) सब प्रकार का उपदेश करनेवाला होगा।

[यह श्लोक कुछ पुस्तकों में मिलता है और कुछ में नहीं है। (१) लोके = संसार में।]

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां[१] शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं[२] काले नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥११४॥

मेरे द्वारा रचा हुआ यह नाट्य दुःख से पीड़ित, थके-माँदे, शोक-संतप्त बेचारे लोगों के लिए (उचित) समय पर विश्राम देनेवाला है।

[(१) समर्थानां = शक्तिशाली पुरुषों के लिए। (२) विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति = यह नाट्य लोक में विश्राम को जन्म देनेवाला

होगा। नाट्येऽस्मिन्यन्नदृश्यते=जो इस नाट्य में नहीं दिखलाई पड़ता। इस अन्तिम पाठभेद में कुछ तुक नहीं है।]

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥११५॥

यह नाट्य धर्म, यश और आयु का करने (अर्थात् बढ़ाने) वाला, हितकारी, बुद्धि की बढ़ानेवाला तथा लोक के लिए उपदेश को जन्म देनेवाला होगा।

न तच्छ्रुतं[1] न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न[2] स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न[3] दृश्यते ॥ ११६ ॥

अध्ययन (श्रवण) द्वारा प्राप्त किया कोई ऐसा ज्ञान नहीं है, शिल्प नहीं है, विद्या नहीं है, कला नहीं है, योग नहीं है, काम नहीं है जो इस नाट्य में न देखा जाता हो।

[(१) न तज्ज्ञानम्=न कोई ऐसा ज्ञान है। (२) नासौ योगो= न कोई ऐसा योग है। (३) नाट्येऽस्सिन्य=इस नाटक में जो।]

नाट्य लोक का अनुकरण है; अतएव जो कुछ लोक में है उस सब का अनुकरण नाटक में किया जाता है। साहित्य, वास्तुकला, चित्रकला, संगीतनृत्यादि, ज्ञानविज्ञान सभी कुछ नाटक में उपयुक्त स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हैं और होते हैं। यह श्लोक नाटक और उसके प्रभाव की व्यापकता को सूचित करता है। यदि हम नाट्यशास्त्र को आदि से अन्त तक पढ़ें तो पता चल जायेगा कि इस शास्त्र को केवल साहित्य का ही ग्रंथ नहीं कह सकते। इसमें अलङ्कार, रस, छन्द, वास्तु, नृत्य, गीत, भावाभिनव, कामशास्त्र इत्यादि अनेकों कलाओं और विद्याओं इत्यादि का समावेश है। अनेकों प्राकृतों के लक्षण इसमें बतलाये गये हैं। जितना जटिल और संकुल यह नाट्यशास्त्र है उतनी ही वास्तव में नाट्यकला भी है। इसी लिये नाटक को मिश्रित कला (कम्पोज़िट आर्ट) कहा जाता है। समुन्नत नाट्य-कला के लिये समृद्धिशाली एवं स्वाधीन राष्ट्र की आवश्यकता होती है।

[सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ।।]

सब शास्त्र, सब शिल्प तथा विविध प्रकार के कर्म इस नाट्य में एकत्रित होते हैं और सन्निविष्ट रहते हैं, इसी लिये यह नाटक मेरे द्वारा रचा गया है ।

[यह श्लोक भी कुछ प्रतियों में मिलता है, सब में नहीं ।]

तन्नात्र मन्युः कर्तव्यो भवद्भिरमरान्प्रति ।
[सप्तद्वीपानुकरणं नाट्य[1]मेतद्भविष्यति ।]
येनानुकरणं नाट्यमेतत्तद्यन्मयाकृतम् ।। ११७ ।।

इस लिये आप (दैत्यों) के द्वारा इस विषय में देवताओं के प्रति क्रोध नहीं किया जाना चाहिये; क्योंकि वह जो मेरे द्वारा रचा गया यह नाट्य है, अनुकरण (मात्र) है । तथा यह नाटक सप्तद्वीपों का (अथवा सप्तद्वीपों में) अनुकरणरूप ही होगा ।

[उपर्युक्त तीन अनुष्टुप् पंक्तियों में मध्यपंक्ति कुछ प्रतियों में मिलती है, कुछ, में नहीं । (१) नाट्ये ह्यस्मिन्प्रतिष्ठतम् = इस नाटक में प्रतिष्ठित (= स्थित) है ।]

भरत मुनि का आशय यह है कि नाट्य में अभिनीत प्रिय और अप्रिय कार्यकलाप अनुकरण मात्र होते हैं अतएव उनके विषय में क्रोध नहीं करना चाहिये । कल्पना के द्वारा कलाकार जिन रूपों की उद्भावना करता है उनकी विशेषता यही है कि जो अवस्था वास्तविक जगत् में सुखदुःखस्वरूप होती है उसी की कल्पनात्मक अनुकृति "ह्लादैकमयी" केवल आनन्दपूर्ण होती है । सप्तद्वीपों के नाम १।१० की टिप्पणी में देखिये ।

देवानामसुराणां च राज्ञामथ[1] कुटुम्बिनाम् ।
[2]ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ।।११८।।

नाट्य को देवताओं, असुरों, राजाओं, कुटुम्बीजनों तथा ब्रह्मर्षियों के वृत्तान्त को प्रदर्शित करनेवाला जानना चाहिये ।

[(१) राज्ये लोकस्य चैवहि = और राज्य में लोक का। (२) कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते = इनके किये हुए का अनुकरण संसार में नाटक (नाट्य) कहलाता है।]

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदु:खसमन्वित:[१] । 58
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥११९॥ 54

यह जो लोक (संसार अथवा मनुष्य) का सुख दुख से युक्त स्वभाव है वही अङ्गों आदि के अभिनय द्वारा युक्त (सम्पादित) होने पर नाट्य कहा जाता है।

[(१) समन्वितम् = युक्त अथवा सहित।]

वि० दूसरी पंक्ति के अङ्ग के साथ में आदि शब्द इसलिये जोड़ दिया गया है क्योंकि अभिनय अङ्गों, के द्वारा ही नहीं, शब्दों, वेशभूषा, सात्विक भाव इत्यादि अनेकों अन्य उपायों के द्वारा भी होता है। नाट्यशास्त्र में सभी प्रकार के अभिनयों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

वेदविद्येतिहासानामा[१]ख्यानपरिकल्पनम् ।
विनोदकरणं लोके[२] नाट्यमेतद्भविष्यति ॥१२०॥

वेदों, विद्याओं और इतिहासों की (कथाओं) परिकल्पना करनेवाला तथा (परिकल्पन के द्वारा यह) नाट्य संसार में विनोद का करनेवाला होगा।

[श्लोक सं० ११८ और ११९ कुछ प्रतियों में नहीं हैं। १२०वें श्लोक के पश्चात् कुछ प्रतियों में एक पंक्ति यह मिलती है—श्रुतिस्मृतिसदाचार परिशेषार्थकल्पनम् = श्रुति (वेद), स्मृति और सदाचार संबंधी ग्रंथों से शेष बचे हुए अर्थ की कल्पना करनेवाला। किसी किसी प्रति में १२० श्लोक की दूसरी पंक्ति में 'लोके' के स्थान पर 'काले' (=समय पर) पाठान्तर मिलता है। (१) अर्थानाम् = अर्थों का अथवा राजनीति का। (२) विनोदजननं लोके = संसार में विनोद को उपजानेवाला।]

वि० वास्तविक जगत् की अवस्थाओं की अनुकृति का नाम नाट्य

है। पर यह अनुकृति दर्पणगत प्रतिच्छवि अथवा छायाचित्रण (फोटोग्राफ़ी) नहीं है। यह रिफ्लैक्शन नहीं रिप्रैज़ैण्टेशन है। वेदों, विद्याओं और इतिहासों के उपाख्यानों की परिकल्पनात्मक (इमैजिनेटिव) प्रत्यभिव्यक्ति है। इसमें कल्पना का योग इसको विनोद-जनक एवं कलात्मक बना देता है।

एतस्मिन्नन्तरे देवान्सर्वानाह पितामहः।
क्रि[1]यतामद्य यजनं विधिवन्नाट्यमण्डपे ॥१२१॥

इतना कह चुकने के पश्चात्, ब्रह्माजी ने सब देवों से कहा "आज (आपके द्वारा) नाट्यमण्डप में विधिपूर्वक यज्ञ किया जाना चाहिये।

[१ (क) कुरुमंत्रस्ययजसम् = मंत्र का (मंत्र के द्वारा) यज्ञ कर। (ख) क्रियताम् नाट्यविधिवद् यजनम् = तुम्हारे द्वारा नाट्यविधि के अनुसार यज्ञ किया जाय। किसी-किसी प्रति में—"यजनं विधिवद्" के स्थान "विधिवद् यजनं" ऐसा पाठान्तर है, अर्थ वही है।]

बलि-प्रदानैर्होमैश्च मन्त्रौषधिसमन्वितैः।
भो[1]ज्यैर्भक्ष्यैश्च पानैश्च बलिः समुपकल्प्यताम् ॥१२२॥

यह (उपर्युक्त यज्ञ) बलि—(भेंट) प्रदानों एवं मंत्रो तथा औषधि से युक्त हवनों द्वारा किया जाना चाहिए और भेंट (बलि) की रचना भोज्य, भक्ष्य तथा पीने के योग्य पदार्थों से होनी चाहिए।

[१ (क) जप्यैर्भक्ष्यैश्चपानैश्च = जपने के योग्य मंत्रों, तथा खाने और पीने के योग्य पदार्थों द्वारा। (ख) जप्यैर्भक्ष्यैश्चभौज्यैश्च = जपने के योग्य मंत्रों तथा खाने और भोजन करने के योग्य व्यंजनों से।]

वि० भोज्य का अर्थ है कड़े अथवा कठोर खाने के पदार्थ और भक्ष्य का अर्थ है मुलायम खाना।

मर्त्य[1]लोकेऽप्ययं वेदः शुभां पूजामवाप्स्यति।
अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षा[2] प्रवर्त्तते ॥१२३॥

यह (नाट्य) वेद मर्त्यलोक में भी शुभ पूजा को प्राप्त करेगा। रङ्ग

(=नाट्यमण्डप) की पूजा किये बिना प्रेक्षा (=तमाशा) आरम्भ नहीं होती।

[(१) मर्त्यलोकगताः सर्वे शुभां पूजामवाप्स्यथ =(नाट्यमण्डप की पूजा करने से) तुम सब देवता मर्त्यलोक में गए हुए शुभ पूजा को पाओगे। (२) प्रेक्षां प्रवर्तयेत् = प्रेक्षा (=खेल, तमाशे) को चालू करे।]

अपूजयित्वा रङ्गं तु यः प्रेक्षां कल्पयिष्यति।
तस्य तन्निष्फलं ज्ञानं तिर्यग्योनिं च यास्यति ॥१२४॥

जो कोई रङ्ग का पूजन किये बिना खेल की योजना (रचना, प्रबंध) करेगा, उसका वह (नाट्य का) ज्ञान निष्फल होगा और वह पशुयोनि को प्राप्त होगा।

यज्ञेन संमितं ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं नाट्य[२]योक्तृभिः ॥१२५॥

यह जो रङ्गदैवत का पूजन है यह (वैदिक) यज्ञ के बराबर महत्व-वाला है, अतएव नाटक की योजना करनेवालों के द्वारा इसको सब प्रयत्न पूर्वक किया जाना चाहिए।

[(१) संमतं = माना हुआ, समादृत अथवा सम्मानित। (२) रङ्ग-पूजनम् = रङ्ग का पूजन।]

न[१]र्तकोऽर्थपतिर्वापि यः पूजां न करिष्यति।
न कारयिष्यत्य[२]न्यैर्वा प्राप्स्य[३]त्यपचयं तु सः ॥१२६॥

चाहे नर्तक (नट, अभिनेता) चाहे नाटक को संरक्षण प्रदान करने-वाला (अर्थपति) धनवान व्यक्ति, जो भी रङ्ग की पूजा नहीं करेगा अथवा दूसरों से नहीं करायेगा, वह अवनति को प्राप्त होगा।

[(१) तत्र कोऽ = वहाँ कौन ऐसा ?। तत् कोऽ = तो वह कौन ?, इसलिये कौन ऐसा। (२) वा चैव = और अथवा। (३) प्राप्नोत्यपचयम् = अवनति, (घाटा, हानि) को प्राप्त करता है।]

वि० अर्थपति का अर्थ धन का स्वामी है। जो व्यक्ति धन की सहा-

यता से रङ्ग कार्य में—रङ्गनिर्माण और अभिनय इत्यादि में सहायक होता था, नटों और अभिनेताओं को संरक्षण एवं पुरस्कार इत्यादि देता था, अर्थपति कहलाता था। व्यवसाय की दृष्टि से रंग-निर्माण अथवा अभिनय का कार्य प्राचीन काल में भारतवर्ष में होता हो इसका उल्लेख नहीं मिलता। प्राचीन काल में ग्रीस देश भी में इस प्रकार अर्थपति होते थे उनको "खोरेगॉस" कहा जाता था। यह लोग नाट्यमंडलियों की उपलब्धि के लिये पैसा व्यय किया करते थे।

यथाविधि यथा[१]दृष्टं यस्तु पूजां करिष्यति।
स लप्स्यते शुभानर्थान्स्वर्गलोकं च[२] यास्यति ॥ १२७ ॥

और जो विधि और दर्शन (पूर्वानुभव) के अनुसार पूजा करेगा वह शुभ अर्थों (धनों अथवा पदार्थों) को पायेगा और स्वर्गलोक को जाएगा।

[(१) यथाशास्त्रम्=शास्त्र के अनुसार। (२) गमिष्यति= जाएगा।]

एवमुक्त्वा[१] तु भगवान्द्रुहिणः सह[२] दैवतैः।
रङ्गपूजां कुरुष्वेति मामेवं समचोदयत् ॥१२८॥

भगवान् ब्रह्माजी ने ऐसा कहकर, देवताओं के साथ मुझ (भरत) को यह प्रेरित किया कि (तू) रङ्ग की पूजा कर।

[(१) एवं भवत्विति प्राह=यह कहा कि ऐसा हो। (२) सर्व-दैवतैः=सब देवताओं से या सब देवताओं के सहित।]

इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे
नाट्योत्पत्ति-शास्त्रोत्पत्ति (-र्नाम)
प्रथमोऽध्यायः।

इस प्रकार श्री भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में
नाट्योत्पत्ति (शास्त्रोत्पत्ति) नामक
प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।

———

४

द्वितीयोऽध्याय : ।

भरतस्य वचः श्रुत्वा प्रत्यूचुर्मनयस्ततः[1] ।
भगवन्[2] श्रोतुमिच्छामो यजनं रङ्गसंश्रयम् ॥१॥

तब भरत के वचनों को सुनकर मुनियों ने उनके प्रति कहा कि हे भगवन् हम रङ्ग संबन्धी यज्ञ (यजन) का विषय सुनना चाहते हैं।

[(१) यदा = तब । (२) भगवन् = भगवान् ।

रङ्ग से तात्पर्य रङ्गमंच और समग्र रङ्गशाला (जिसके अन्तर्गत रंगमंच और सामाजिक और उनके बैठने का स्थान सब कुछ आ जाता है) दोनों ही से है ।

अथवा याः क्रियास्तत्र लक्षणं यच्च पूजनम् ।
भविष्यद्भिर्नरैः कार्यं कथं तन्ना[1]ट्यवेश्मनि ॥२॥

अथवा उस नाट्यशाला में जो क्रियाएँ तथा जिस लक्षण का पूजन हो उसको भविष्य में होनेवाले मनुष्यों द्वारा किस प्रकार किया जाना चाहिये, यह सब बतलाइये ।

[(१) वै = निश्चय ही ।] वि० लक्षण शब्द का अर्थ यहाँ नाट्यशाला का लक्षण भी हो सकता है ।

इहादिर्नाट्ययोगस्य[1] की[2]र्तितो नाट्यमण्डपः ।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि ॥३॥

"(क्योंकि) यहाँ (नाट्योत्पत्ति प्रकार में) नाट्ययोग (नाट्ययोजना) का आदि नाट्य-मण्डप को कहा गया है इसलिये पहले आपको उसका ही लक्षण कहना चाहिये ।"

[(१) नाट्यवेदस्य = नाट्यवेद का । २ नाट्यमण्डप एव हि = क्योंकि नाट्यमण्डप ही है ।]

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतोऽब्रवीत् ।
लक्षणं पूजनं चैव श्रूयतां नाट्यवेश्मनः ॥४॥

उन मुनियों के वचन को सुनकर भरत बोले "आप लोग नाट्य-शाला के लक्षण और पूजन को ही सुनिये।"

[(१) नाट्यवेश्मनि = नाट्यगृह में (जो लक्षण होते हैं तथा जो पूजन होता है उसको सुनिये।]

देवा[१]नां मानसी सृष्टिर्गृहेषूपवनेषु च।
यथा भावाभिनिर्वर्त्याः सर्वे भावास्तु मानुषाः ॥५॥

देवताओं के गृहों और उपवनों में जो (रचना) होती है वह मानसी सृष्टि होती है। पर मनुष्यों के जो भाव हैं (गृहादि रचनाएँ हैं) वे तो सब के जैसे होते हैं वैसे ही विधिपूर्वक बनाने पड़ते हैं।

[(१) दिव्यानां = देव लोक के प्राणियों अर्थात् देवताओं के। यह श्लोक थोड़े भेद के साथ आगे (२।२७-२८) भी आया है और वहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उसका उत्तरार्द्ध कुछ प्रतियों में नहीं मिलता।]

वि० देवता अपने मन से जैसे ग्रह अथवा उपवन की कल्पना करते हैं उनके मानसिक संकल्पमात्र से वैसे ही गृहादि प्रस्तुत हो जाते हैं। परन्तु यदि मनुष्यों को भवन और उपवन इत्यादि चाहिए तो उनके मानसिकसंकल्प मात्र से वे नहीं बन सकते। वे जैसे होते हैं वैसे नियमानुसार परिश्रम बनाने से बनते हैं।

नराणां यत्नतः काया लक्षणाभिहिताः क्रियाः।
श्रूयतां तद्यथा यत्र कर्तव्यो नाट्यमण्डपः ॥६॥

नाट्यमण्डप के लक्षण में कही हुई क्रियाएँ मनुष्यों के पक्ष में यत्न-पूर्वक करनी होती हैं। उस नाट्यमण्डप को जिस प्रकार और जहाँ बनाना चाहिए यह (सब विषय) सुनिए।

[(१) तत्र = वहाँ, उस विषय में।]

तस्य[१] वास्तु च पूजा च यथायोज्या प्रयत्नतः।
इह प्रेक्षागृहं[२] दृष्ट्वा श्रीमता[३] विश्वकर्मणा ॥७॥

त्रिविधः सन्निवेशश्च शास्त्रतः परिकल्पितः ।
विकृष्टश्चतुरस्त्रश्च[४] त्र्यस्त्र[५] श्चैव तु मण्डपः ॥८॥

उसकी गृहनिर्माणविधि तथा पूजा, जो विधिपूर्वक प्रयत्न से जुटाई जानी चाहिए, (सुनो)। यहाँ दिव्य प्रेक्षागृह (नाट्यगृह) को देखकर श्रीमान् विश्वकर्मा के द्वारा उसकी स्थिति का तीन प्रकार का होना शास्त्र के अनुसार निश्चित किया गया कि नाट्यमण्डप (१) आयताकार (२) वर्गाकार अथवा (३) त्रिभुजाकार होना चाहिए।

[(१) तस्य दैवतपूजा च यथा योज्या च वास्तुषु = उसकी देवपूजा वास्तुओं (=भवनों) में जिस प्रकार की जानी चाहिए (उसे भी सुनो)। इस पंक्ति का संबंध पूर्व श्लोक के श्रूयताम् शब्द से है । (२) प्रेक्षागृहाणां तु = नाट्यगृहों की (रचना) तो । (३) धीमता = बुद्धिमान् (विश्वकर्मा के द्वारा)। (४) चतुरश्रः । (५) त्र्यश्रः ।]

वि० क्योंकि देवताओं के भवन इत्यादि सभी मानसिक संकल्प द्वारा रचे जाते हैं अतः दिव्यनाट्यशालाओं की विधि का वर्णन नहीं किया गया। मानवीय नाट्यगृह का शास्त्रानुसार निर्माण किस प्रकार होना चाहिए यही अब बतलाया जा रहा है। त्र्यस्त्र और चतुरस्त्र शब्दों में अस्त्र शब्द आया है उसका अर्थकोण (=कोना) होता है ।

तेषां त्रीणि प्रमाणानि ज्येष्ठं मध्य तथावरम् ।
प्रमाणमेषां निर्दिष्टं हस्तदण्डसमाश्रयम् ॥९॥

इनकी माप तीन प्रकार की होती है (१) ज्येष्ठ (बड़ी) (२) मध्य (मझली) और (३) अवर (=हीन अथवा सबसे छोटी)। इनकी माप हस्त और दण्ड के हिसाब से बतलाई है ।

वि० हस्त और दण्ड का लक्षण आगे १६–१८ श्लोकों में बतलाया गया है ।

शतं चाष्टौ चतुःषष्टिर्हस्ता[१] द्वात्रिंशदेव च[२] ।
अष्टाधिकं शतं ज्येष्ठं चतुःषष्टिस्तु मध्यमम् ॥१०॥

(१०८) एक सौ आठ हाथ, (६४) चौंसठ हाथ और (३२) बत्तीस

हाथ (यह तीन नाप हैं)। एक सौ आठ (१०८) हाथ लम्बा प्रेक्षागृह ज्येष्ठ तथा चौंसठ (६४) हाथवाला मध्य।

[(१) द्वात्रिंशच्चेति निश्चितम् = बत्तीस हाथ निश्चित है। (२) वा = अथवा।]

कनीयस्तु तथा वेश्म हस्ता[1] द्वात्रिंशदिष्यते।
देवानां तु[2] भवेज्ज्येष्ठं नृपाणां मध्यमं भवेत् ॥११॥

तथा सबसे छोटा नाट्यगृह बत्तीस ३२ हाथ का होना चाहिए। देवताओं का नाट्यगृह ज्येष्ठ (सबसे बड़ा) हो, राजाओं का मध्यम।

[(१) द्वात्रिंशत्करमिष्यते = बत्तीस ३२ हाथ का होना चाहिए। (२) भवनं ज्येष्ठम् = बड़ा नाट्यभवन।]

शेषाणां प्रकृतीनां तु कनीयः संविधीयते।
प्रेक्षा[1]गृहाणां सर्वेषां प्रशस्तं मध्यमं स्मृतम् ॥ १२ ॥
तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत्।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां त्रिप्रकारो विधिः स्मृतः ॥ १३ ॥

शेष सामान्य (प्रजा-) जनों के लिए छोटे नाट्यगृह का संविधान किया जाता है। सब प्रेक्षागृहों में मध्यमाकृति प्रेक्षागृह को सबसे अधिक प्रशंसा के योग्य माना गया है। उसमें पढ़ा और गाया हुआ सुख से सुने जाने योग्य होता है। सब नाट्यगृहों की विधि तीन प्रकार की कही गई है।

[(१) १२वें श्लोक का उत्तरार्द्ध तथा १३वें का पूर्वार्द्ध कुछ पुस्तकों में नहीं मिलता।]

विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः।
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं तु मध्यमम् ॥ १४ ॥
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः।

अभिनय करनेवालों के द्वारा उनको विकृष्ट (आयताकृति), चतुरस्र (वर्गाकृति) चौकोर तथा त्र्यस्र (त्रिकोण) प्रकार का कहा गया है। त्र्यस्र को सबसे छोटा और चौकोर को मध्यमाकृति कहा गया है। नाट्यवेद का

प्रयोग करनेवालों के द्वारा सबसे बड़ा प्रेक्षागृह विकृष्ट (आयताकार) जाना जाय ।

[१२वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से लेकर यहाँ तक की ६ पंक्तिया कुछ पुस्तकों में नहीं हैं। कुछ विद्वान् इनको प्रक्षिप्त मानते हैं ।]

वि० नाटयशास्त्र का पाठ अत्यन्त विकृत अवस्था में प्राप्त होता है। पाठभेदों की भरमार है। इसके कारण अर्थ करने में भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। आठवें श्लोक से लेकर १५वें श्लोक के पूर्वार्द्ध तक नाट्यगृह के स्वरूप का जो वर्णन है उसके विषय में पर्याप्त विवाद हो सकता है और हुआ है।

आकार की दृष्टि से नाटयगृह के तीन भेद बतलाये गये हैं, (१) विकृष्ट, (२) चतुरस्त्र और (३) त्र्यस्त्र। माप की दृष्टि से तीन भेद कहे गये हैं, (१) ज्येष्ठ, (२) मध्यम और (३) अवर। कुछ आलोचकों के मत में, तथा उपर्युक्त १४वें श्लोक के उत्तरार्द्ध और १५वें के पूर्वार्द्ध के अनुसार यह दोनों भेद एक ही तिकड़ी के सूचक हैं,—अर्थात् ज्येष्ट=विकृष्ट, मध्यम=चतुरस्त्र और अवर=त्र्यस्त्र। परन्तु उपर्युक्त दोनों पंक्तियों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। अतएव अन्य कुछ आलोचक उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार नहीं करते ।

नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका के लेखक अभिनवगुप्त को भी यह मत मान्य नहीं है। उन्होंने लिखा है कि "एतान्येव त्रीणि ज्येष्ठादीनि" इति केचित्, अन्येतु प्रत्येकं त्रित्वमिति नवैतेऽत्र भेदा इत्याहुः; एतदेव युक्तम्" = कुछ लोगों का कहना है कि यही विकृष्ट, चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र ही क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अवर होते हैं, अन्य लोगों कहना है कि प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं और सब मिलाकर नौ भेद होते हैं; यही युक्त है। फिर इसके अतिरिक्त माप भी दो प्रकार की बतलाई गयी है १ हस्तात्मक, २ दण्डात्मक। इस प्रकार निम्नलिखित १८ (३ × ३ × २) प्रकार के नाट्यगृह हो सकते हैं।

(१) हस्तप्रमाणज्येष्ठविकृष्ट (२) हस्तप्रमाणज्येष्ठचतुरस्र
(३) हस्तप्रमाणज्येष्ठ त्र्यस्र (४) दण्डप्रमाण ज्येष्ठविकृष्ट
(५) दण्डप्रमाणज्येष्ठचतुरस्र (६) दण्डप्रमाणज्येष्ठ त्र्यस्र
(७) हस्तप्रमाणमध्यविकृष्ट (८) हस्तप्रमाणमध्यचतुरस्र
(९) हस्तप्रमाणमध्यत्र्यस्र (१०) दण्डप्रमाणमध्यविकृष्ट
(११) दण्डप्रमाणमध्यचतुरस्र (१२) दण्डप्रमाणमध्यत्र्यस्र
(१३) हस्तप्रमाणकनीयस्विकृष्ट (१४) हस्तप्रमाणकनीयस्चतुरस्र
(१५) हस्तप्रमाणकनीयस्त्र्यस्र (१६) दण्डप्रमाणकनीयस्विकृष्ट
(१७) दण्डप्रमाणकनीयस्चतुरस्र (१८) दण्डप्रमाणकनीयस्त्र्यस्र

इस पर भी एक कठिनाई यह रह जाती है कि ऊपर १०म श्लोक में जो प्रमाण बतलाए गये हैं वे चतुरस्र और त्र्यस्र के संबन्ध में ठीक हैं। हम यह मान लेंगे की चतुरस्र और त्र्यस्र की एक भुजा के मान से ही अन्य भुजाओं का माप प्राप्त हो जायेगा। पर विकृष्ट के विषय में यह कठिनाई रह जाती है कि उसकी लम्बाई और चौड़ाई के अनुपात का पता नहीं चलता। आगे चलकर २०-२१ श्लोक से लेकर जिस नाट्यगृह का वर्णन आरंभ किया गया है उसको ९२वें श्लोक में विकृष्ट कहा गया है और यह मर्त्यों का विकृष्ट है अतएव इसको मध्यकृविष्ट कहना चाहिये। इसकी लम्बाई चौड़ाई का अनुपात २:१ है। यही अनुपात हम सब प्रकार के विकृष्ट नाट्यगृहों के संबन्ध में मान सकते हैं।

इस द्वितीय अध्याय में केवल उपर्युक्त ७, ८, और ९ संख्यावाले नाट्यगृहों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रमाणं यच्च निर्दिष्टं लक्षणं विश्वकर्मणा ॥१५॥
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तच्चैवं[1] हि निबोधत।
अणू रजश्च वालश्च लिक्षा यूका यवस्तथा ॥१६॥
अङ्गुल[2] च तथा हस्तो दण्डश्चैव प्रकीर्तितः।
अणवोऽष्टौ रजः प्रोक्तं तान्यष्टौ वाल उच्यते ॥१७॥
वालास्त्वष्टौ भवेल्लिक्षा यूका लिक्षाष्टकं भवेत्।

यूकास्त्वस्टौ यवो[3] ज्ञेयो यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम् ॥१८॥
अङ्गुलानि तथा हस्तश्चतुर्विंशातिरुच्यते ।
चतुर्हस्तो भवेद्दण्डो निर्दिष्टस्तु प्रमाणतः ॥१८॥

विश्वकर्मा द्वारा सब प्रकार के प्रेक्षागृहों (रंगशालाओं) के जो लक्षण और प्रमाण निर्दिष्ट किये गये हैं उनको इस निम्नलिखित प्रकार से समझो । अणु, रज, बाल, लीख (जूँ का अण्डा) जूँ, जौ, अङ्गुल, हस्त, तथा दण्ड यह ९ नाप की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संज्ञाएँ कही गई हैं । आठ अणुओं का एक रज कहा जाता है, तथा वे आठ रज-(कण) एक बाल कहलाते हैं । आठ बाल एक लीख होवें तथा आठ लीख एक जूँ के बराबर हों; आठ जुओं को एक जौ के बराबर जानना चाहिए तथा आठ जौ को एक अङ्गुल के । और चौवीस अङ्गुल का एक हाथ कहा जाता है एवं प्रमाण के अनुसार एक दंड चार हाथ का हो ।

[(१) तच्चैव = और उसको ही (भी) । (२) अङ्गुलं चैव हस्तश्च दण्डश्च परिकीर्त्तितः = (मापों को) अंगुल, हस्त और दण्ड कहा गया है । (६) यवः प्रोक्तः = जौ कहा है ।]

वि० ८ अणु = १ रज
८ रज = १ बाल
८ बाल = १ लीख
८ लीख = १ जूँ
८ जूँ = १ यव
८ यव = १ अंगुल
२४ अंगुल = १ हाथ (लगभग आधा गज)
८ हाथ = १ दण्ड (,, ,, चार गज)

अनेनैव प्रमाणेन वक्ष्याम्येषां विनिर्णयम् ।
चतुःषष्टि[1]करान्कुर्याद्दीर्घत्वेन तु मण्डपम् ॥२०॥
द्वा[2]त्रिंशतं तु विस्तारान्मर्त्यानां यो भवेदिह ।
अत ऊर्द्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ॥२१॥

इसी प्रमाण की विधि के अनुसार मैं इनके आकार का विनिर्णय (निश्चय) बतलाऊँगा। इस मर्त्यलोक में मरणधर्मा मनुष्यों का जो नाट्यमण्डप हो उसको लम्बाई में ६४ चौंसठ हाथ और चौड़ाई में ३२ बत्तीस हाथ का करे (बनाए)। बनानेवालों के द्वारा नाट्यमण्डप इससे अधिक विस्तीर्ण नहीं बनाया जाना चाहिए।

[(१) चतुःषष्टिस् = चौंसठ ६४। द्वात्रिंशेन तु विस्तारं मर्त्यानां योज येदिह = मर्त्यों (मनुष्यों) के नाट्यगृह में चौड़ाई की योजना ३२ बत्तीस हाथ की करे।]

यस्मादव्यक्तभावं हि तत्र नाट्यं व्रजेदिति।
मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चरितस्वरम् ॥ २२ ॥

क्योंकि मण्डप के बहुत अधिक बड़ा (अथवा दर्शकों से बहुत अधिक दूर) होने पर उसमें पढ़ी अथवा कही हुई बात श्रोताओं के द्वारा ठीक-ठीक नहीं सुनी जायेगी और नाट्य (अभिनय) अव्यक्तभाव (अस्पष्टता) को प्राप्त हो जायेगा।

अनभिव्यक्त[1]वर्णत्वाद्विस्वरत्वं भृशं भवेत्[2]।
य[3]आप्यास्यगतो भावो[4] नानादृष्टिसमन्वितः ॥२३॥
स[5]वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यमभिष्यते ॥२४॥
यस्मा[6]द्वाद्यं च गेयं च सुखं श्राव्यतरं भवेत्।

(जो कुछ अभिनय में पढ़ा या कहा जायेगा) उसमें वर्णों के भली प्रकार स्फुटतया व्यक्त न होने पर बहुत अधिक विस्वरता हो जायेगी। और जो भाव उस (अभिनेता) के मुख पर स्थित होगा तथा नानादृष्टियों से समन्वित होगा वह भी प्रेक्षागृह के बहुत विस्तीर्ण होने के कारण बहुत अधिक (पराकोटि की) अव्यक्तता (= अस्पष्टता) को प्राप्त हो जायेगा। इसलिये सब प्रेक्षागृहों में मध्यम विस्तार वाला ही सबसे अधिक वांछित है, जिससे बजाना और गाना सब सुखपूर्वक सुना जा सके।

[(१) अनिःसरणधर्मत्वात् = कण्ठस्वर का धर्म दूर तक न जाने-

वाला होने के कारण। (२) व्रजेत् = जाए या हो जाए। (३) यस्य लास्यगतो = जिसके मृदु नृत्य (लास्य) में रहनेवाला (भाग)। (४) रागो भावसृष्टिरसाश्रयः = वह राग (अथवा गीत) जो कि भावों की सृष्टि और रसों का आश्रय है। (५) सर्वेभ्यः विप्रकृष्टत्वात् = सबसे दूर होने के कारण। (६) यावत् = जितना हो उतना सब।]

वि० प्राचीन यूनान देश में रङ्गस्थल अत्यधिक विस्तीर्ण होते थे और दियोनिसस के उत्सवों पर जो नाटक खेले जाते थे उनको बहुसंख्यक लोग देखने आते थे। परिणामतः अभिनेता चेहरे लगाकर रंगमंच पर उपस्थित होते थे। दर्शक चेहरों के रंग और चेष्टाओं से ही पात्रों का अनुमान लगाया करते थे। ट्रैजैडी और कौमेडी प्रकार के नाटकों के लिये विभिन्न प्रकार के चेहरे होते थे। यह सब इसीलिये करना पड़ता था कि नाट्यस्थल अत्यन्त विस्तीर्ण होता था और दर्शक दूर से अभिनेताओं की भावभंगिमाओं को भली प्रकार देख नहीं पाते थे। अथेन्स में दियोनिसस् के रङ्गस्थल में २७००० दर्शकों के बैठने के लिये स्थान था। भरतमुनि ने इन कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर मध्यमाकृति नाट्यगृह को श्रेष्ठ कहा है और यह उचित भी है क्योंकि अभिनय की स्वाभाविकता की रक्षा ऐसे ही नाट्यगृह में संभव है।

प्रेक्षागृहाणां[1] सर्वेषां त्रिप्रकारोविधिः स्मृतः ॥२५॥
विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्चैव प्रयोक्तृभिः।
कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं चतुरस्रं च मध्यमम् ॥२६॥
ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं नाट्यवेश्म[2] प्रयोक्तृभिः।
देवानां मानसी सृष्टिर्वने[3]षूपवनेषु च ॥२७॥

[(१) इन पाँच पंक्तियों में से चार १३वें श्लोक के उत्तरार्द्ध से १५वें के पूर्वार्द्ध तक पहले ही आ चुकी हैं। पाँचवीं पंक्ति इसी अध्याय के पाँचवें श्लोक का पूर्वार्द्ध है। इन पंक्तियों का अर्थ वहीं देख लेना चाहिये। पाठान्तरों का अर्थ यहाँ दे दिया गया है। (२) नाट्यवेश्म = नाटकघर। (३) वनों और उपवनों में।]

यत्नभावा[1]द्विनिष्पन्नाः सर्वे भावाः हि[2]मानुषाः ।
तस्माद्देवकृतैर्भावैर्न विस्पर्द्धेत मानुषः ॥२८॥

मनुष्यों की सब (गृहादिक) रचनाएँ यत्नद्वारा निर्मित होती हैं। अतएव मनुष्य को देवताओं की रचना से विशेष स्पर्द्धा नहीं करनी चाहिये।

[(१) यत्र भावाभिनिष्पन्नाः=जहाँ बनी हुई रचनाएँ। (२) तु=तो।]

वि० तात्पर्य यह है कि अत्यन्त विस्तीर्ण नाट्यगृह तो केवल देवताओं के लिए निर्दिष्ट हैं मनुष्यों को केवल मध्यमाकृति नाट्यगृह बनाने चाहिए।

मानुषस्य[1] तु गेहस्य[2] संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
भूमेर्विभागं पूर्वं तु परीक्षेत प्रयोजकः[3] ॥२९॥

मैं अब मनुष्यों के (नाट्य-) गृह के लक्षण कहूँगा। प्रयोजक (नाट्य-गृह बनवानेवाले को) प्रथम तो भूमि के खंड की परीक्षा करनी चाहिए।

[(१) मनुष्यस्य=मनुष्य के। (२) गेयस्य ?=गीत का। (३) विचक्षणः=चतुर मनुष्य।]

ततो वास्तु[1] प्रमाणेन प्रारभेत शुभेच्छया[2] ।
समा स्थिरा तु[3] कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत् ॥३०॥
भूमिस्तत्रैव[4] कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।
प्रथमं शोधनं कृत्वा लाङ्गलेन समुत्कृषेत ॥३१॥
अस्थिकीलकपालानि तृणगुल्मांश्च शोधयेत् ।
शोधयित्वा वसुमतीं प्रमाणं निर्दिशेत्ततः ॥३२॥

तब वास्तुशास्त्र के प्रमाण के अनुसार शुभ इच्छा से कार्य आरम्भ करे। जो भूमि स्थिर और कठिन हो तथा रङ्ग में काली या गौर वर्ण की हो उसी पर बनवानेवालों के द्वारा नाट्यमण्डप बनवाया जाना चाहिए। उसको चाहिए कि उस पृथ्वी (भूमि) का शोधन करके उसको हल से जुतवाये। हल चलवाकर हड्डियो, कीलो खपड़ो, तिनके और झाड़ियों को

साफ कर दे। इस प्रकार भूमि का शोधन करके उसके पश्चात् प्रमाण का (नाप का) निर्देश करे।

[(१) वास्तु प्रमाणं च = और वास्तुप्रमाण के अनुसार। (२) यदृच्छया = योंही। (३) च = और। (४) तत्र तु = वहीं तो।]

वि० भवननिर्माण शास्त्र को वास्तुविद्या अथवा वास्तुशास्त्र कहते हैं। प्राचीनकाल में इस विषय पर संस्कृत भाषा में बहुत अधिक साहित्य था। विश्वकर्मा इस शास्त्र के आद्यप्रवर्त्तक थे। अब इस शास्त्र के थोड़े से ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उपलब्ध ग्रन्थो में से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "मानसार वास्तुशास्त्र" है। आकार में यह ग्रंथ लगभग नाट्यशास्त्र के ही समान है। रङ्गशाला के विषय में इसमें जो कुछ कहा गया है वह भी रंगस्थल के स्वरूप को अधिक स्पष्ट नहीं करता।

त्रीण्युत्तराणि सौम्यं च विशाखा चापि रेवती।
हस्ततिष्यानुराधाश्च प्रशस्ता नाट्यकर्मणि ॥३३॥

तीन उत्तराशब्दयुक्त नक्षत्र अर्थात् उत्तराषाढा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, मृगशिरा, विशाखा, रेवती, हस्त, तिष्य और अनुराधा नामक नक्षत्र नाट्यगृह के निर्माणारम्भ में शुभ होते हैं।

[यह श्लोक कुछ पुस्तको में है ही नहीं तथा अन्य कुछ प्रतियो में इसको प्रक्षिप्त कहा है।]

पुष्य[1]नक्षत्रयोगे तु शुक्ल[2]सूत्रं प्रसारयेत्।
कार्पासं बाल्व[3]जं वापि मौञ्जं वाल्कलमेव च ॥३४॥

पुष्यनक्षत्र के योग में (भूमि की नाप के लिये) श्वेतवर्ण के सूत्र (सूत्र या डोरी) को फैलाये। यह सूत्र कपास, वल्वज (बाबड़ ?) घास, मूँज अथवा वल्कल (= वृक्षों) की छाल का हो सकता है।

[(१) पुष्यनक्षत्रयोगेण = पुष्यनक्षत्र के योग से। (२) शुक्लं सूत्रं = श्वेत डोरी को। (३) बदारं चापि वाल्कलं मौञ्जमेव च = बेरी की छाल, वल्कल अथवा मूँज का बना हुआ।]

वि० ३३वें श्लोक में जो तिष्य नक्षत्र दिया हुआ है वह पुष्य नक्षत्र

पर्याय है। सूत्र का दूसरा पर्यायवाची शब्द रज्जु है। मानसार वास्तुशास्त्र में भी प्रायः उपर्युक्त वस्तुओं से ही (सूत्र) रज्जु बनाने का विधान किया गया है।

सूत्रं बुधैस्तु कर्तव्यं यस्य[1] छेदो न विद्यते।
अर्द्धच्छिन्ने भवेत्सूत्रे स्वामिनो मरणं ध्रुवम् ॥३५॥

बुद्धिमानों के द्वारा डोरी ऐसी बनाई जानी चाहिये जो कटी हुई न हो। उस (डोरी) के आधे बीच में कट जाने पर निश्चयेन स्वामी की मृत्यु हो।

[(१) छेदो यस्य = जिसका कटा होना।]

त्रिभागाच्छिन्नया रज्ज्वा राष्ट्रकोपोविधीयते।
छिन्नायां तु चतुर्भागे प्रयोक्तुर्नाश उच्यते ॥३६॥

यदि रस्सी (सूत, डोरी) के तीन टुकड़े हो जाएँ तो (शास्त्र में) राष्ट्र कोप (= विप्लव) का होना कहा गया है। चार भागों में टूट जाने पर प्रयोक्ता (अभिनय के प्रबन्ध करनेवाले) का नाश कहा जाता है।

वि० राष्ट्रकोप से तात्पर्य राजनीतिक उथल-पुथल से है। प्रयोक्ता, अभिनय करनेवाले, बनानेवाले अथवा पुस्तक लिखनेवाने आदि को कहते हैं। यहाँ तात्पर्य अभिनयाध्यक्ष अथवा नाट्याचार्य से है।

हस्ता[1] त्प्रभ्रष्टया वापि कश्चित्त्वपचयो भवेत्।
तस्मान्नित्यं प्रयत्नेन रज्जुग्रहणमिष्यते ॥३७॥

यदि सूत्र हाथ से खिसककर छूट जाये तो भी कोई न कोई हानि अवश्य होती है। अतएव रज्जु को सर्वदा प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करना (शास्त्र में) अभीष्ट है।

[(१) हस्तप्रभ्रष्टया = हाथ से छूटकर गिर जाने पर।]

कार्यं चैव प्रयत्नेन मानं नाट्यगृहस्य तु।
मुहूर्त्तेनानुकूलेन तिथ्या[1] सुकरणेन तु ॥३८॥

नाट्यगृह की नाप भी प्रयत्न से ही की जानी चाहिये। उसके लिये

मुहूर्त[१] और तिथि अनुकूल होनी चाहिये और करण भी शुभ होना चाहिये।

[(१) तिथ्या च करणेन च = और (शुभ) तिथि और करण के अनुसार।]

वि० ज्यौतिषगणना के अनुसार मुहूर्त ४८ मिनट के कालांश को कहते हैं। करण भी ज्यौतिष का पारिभाषिक शब्द है; यह चान्द्र-तिथि का अर्द्धभाग होता है। करणों की संख्या ११ है। इनके नाम (१) वव (२) बालव (३) कौलव (४) तैतिल (५) गर (६) वणिज (७) विष्टि (८) शकुनि (९) चतुष्पद (१०) नाग और (११) किंस्तुघ्न हैं।

[१]ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु पुण्याहं वाचयेत्ततः।
शान्तितो[२] यत्नतो धृत्वा ततः सूत्रं प्रसारयेत् ॥३९॥

तब ब्राह्मणों को तृप्त करके पुण्याह वाचन कराये और तदुपरान्त शान्ति और यत्न से सूत्र को धारण (पकड़) कर फैलाये।

[(१) कुछ पुस्तकों में इस श्लोक के स्थान पर केवल "ब्राह्मणांस्तर्पयित्वा तु तत्र सूत्रं प्रसारयेत्" यह एक ही पंक्ति मिलती है। इसका अर्थ यह है कि—"ब्राह्मणों को तृप्त करके सूत्र को फैलाए।" (२) शान्तितोयं ततो दत्त्वा = तब शान्ति का जल छोड़कर।]

वि० किसी भी शुभ धार्मिक कृत्य के पूर्व तीन बार—"ॐ पुण्याहम् = (यह पुण्य दिन है)" इस वाक्य का पाठ कराना पुण्याहवाचन कहलाता है।

चतुः[१]षष्टिकरान्कृत्वा द्वि[२]धाकुर्यात्पुनश्चतान्।
पृष्ठतो यो भवेद्भागो द्वि[३]धाभूतस्य तस्य तु ॥४०॥
[४]तस्यार्द्धेन विभागेन रङ्गशीर्षं [५]प्रकल्पयेत्।
[६]पश्चिमेऽथ विभागे च नेपथ्यगृहमादिशेत् ॥४१॥

चौंसठ (६४) हाथ भूमि नापकर उसको दो भागों में बाँटे और दो भागों में जो पीछे का भाग हो उसके आधे विभाग में रङ्गशीर्ष की रचना करे। तदुपरान्त इसके भी पिछले विभाग में नेपथ्यगृह का विधान करे।

[(१) चतुःषष्टिम् = चौंसठ ६४। (२) द्विधाभूतान्पुनस्ततः = तब फिर दो भागों में बँटे हुओं को। (३) द्विधाभूतो भवेच्च सः = वह दो भागों में बटा हुआ हो। (४) तस्याप्यार्द्धार्द्धभागे = उस आधे के भी आधे भाग में। सममर्धविभागेन = आधे भाग के बराबर हिस्से में। (५) प्रयोजयेत् = रचे, बनाए। (६) पश्चिमे च विभागेऽथ = तदुपरान्त पिछले भाग में। पश्चिमेतु पुनर्भागे = फिर पिछले भाग में।]

वि० यह हस्त प्रमाणवाले मध्यविकृष्ट नाट्यगृह की रचना का वर्णन है। इसकी लम्बाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ है। इसकी लम्बाई को प्रथम दो भागों में बाँटा जाता है। पिछले आधे भाग को पुनः १६, १६ हाथ लम्बे भागों में बाँटा जाता है। इसमें अन्तिम १६ हाथवाले भाग को ८, ८ हाथ के दो भागों में विभक्त किया जाता है। सबसे पिछला ८×३२ वाला भाग नेपथ्यगृह कहलाता है। उससे आगेवाला ८×३२ भाग रङ्गशीर्ष होता है।

नेपथ्यगृह रङ्गमञ्च के पीछे के स्थान को कहते हैं जो नटों की वेश-भूषा सजाने के लिए प्रयुक्त होता है। इसमें जो कुछ कार्य होता है वह दर्शकों (सामाजिकों) को दिखलाई नहीं देता। हाँ कभी-कभी वहाँ का वार्त्तालाप अवश्य सुनाई दे सकता है।

विभज्य[1] भागान् विधिवद्यथावदनुपूर्वशः।
शुभे नक्षत्रयोगे च[2] मण्डपस्य निवेशनम् ॥४२॥
शङ्खदुंदुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः।
[3]सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु ॥४३॥

पूर्व कथित विधि के अनुसार भागों का यथावत् (ठीक ठीक) विभाजन करके शुभ नक्षत्रयोग में शङ्ख और दुन्दुभि के निर्घोष (नाद) के साथ तथा मृदङ्ग और पणव आदि सब बाजों को बजवाने के द्वारा (अर्थात् धूमधाम से) मण्डप का निवेशन और स्थापन करना चाहिए।

[(१) विकल्प्य = रचकर या मन में कल्पित रचना करके। (२) तु = तो। (२) सर्वे तूर्यनिनादैश्च = सब तुरही बाजों के नादों के साथ।]

वि० निवेशन का अर्थ घर भी होता है। तोद्य उन बाजों को कहते हैं जो पीटकर बजाये जाते हैं।

उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्ड्या[1]श्रमि[2]णस्तथा।
कषायवसनाश्चैव विकलाश्चैव ये नराः ॥४४॥

जो भी अनिष्ट करनेवाले (मनुष्य अथवा पदार्थ) हों वे, पाषण्डी और आश्रमी लोग (अर्थात् जिनका कलात्मक एवं विनोदात्मक जीवन से विरोध है) कषायवस्त्रधारी व्यक्ति तथा जो विकलाङ्ग मनुष्य हों (लूले लङ्गड़े, अन्धे इत्यादि)—वे सब उस समय हटा दिये जाने चाहिये।

[(१) पाषण्डाश्रमिणः = पाषण्ड आश्रमवाले। (२) श्रमणाः = जैन साधु।]

वि० पाषण्ड शब्द आरम्भ में बुरे अर्थ को सूचित नहीं करता था। मूलतः इसका अर्थ किसी समाज अथवा संघ में अन्तर्भुक्त व्यक्ति होता था। पीछे चलकर इसका अर्थ ढोंगी व्यक्ति हो गया।

निशायां च बलिः कार्यो नानाभोजनसंयुतः[1]।
गन्धपुष्पफलोपेतो दिशो दश समाश्रितः ॥४५॥
पूर्वेण शुक्लान्नयुतो नीलान्नो[2] दक्षिणेन च।
पश्चिमेन बलिः पीतो रक्तश्चैवोत्तरेण तु ॥४६॥
यादृशं[3] दिशि यस्यां तु दैवतं परिकल्पितम्।
तादृशस्तत्र दातव्यो बलिर्मंत्रपुरस्कृतः ॥४७॥

और रात्रि में नाना प्रकार के भोजनों से युक्त, गन्ध, पुष्प, और फलों से समन्वित (देव-) बलि दशों दिशाओं में देनी (करनी) चाहिये। पूर्व दिशा में शुक्ल (सफेद) अन्न की, दक्षिण में नीले, पश्चिम में पीले तथा उत्तर में लाल अन्न की बलि दी जानी चाहिये। जिस दिशा में जैसा दैवत (= देवता) परिकल्पित है उस दिशा में वैसी ही बलि मंत्रों के साथ दी जानी चाहिये।

[(१) नानाभोजनसंश्रयः = अनेक प्रकार के भोजनों से युक्त। (२) क० नीलश्चैव तु दक्षिणः = दक्षिण दिशा की बलि नीले रङ्ग की हों (ख)

नीलः स्याद्दक्षिणेन च = और दक्षिण की बलि नीली हो । (३) यस्यां यच्चाधिदैवं तु दिशि संपरिकीर्त्तितम् = जिस दिशा जो में देवता (धर्मग्रंथों में) अधिदेव के रूप में कहा गया है ।]

दश दिशाओं के नामः—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, आग्नेय, वायव्य, नैऋत्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः हैं। इन दिशाओं के दैवत (दिक्-पाल) इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, अग्नि, वायु, निऋति, ईशान्, हैं ।

स्थापने ब्राह्मणेभ्यश्च दातव्यं घृतपायसम् ।
मधुपर्कस्तथा राज्ञे कर्तृभ्यश्च गुडौदनम् ॥४८॥

स्थापना (नींव रखने) के उत्सव में ब्राह्मणों को घृतयुक्त पायस (खीर) राजा को मधुपर्क तथा काम करनेवालों को (अथवा अभिनय करनेवालों को) गुड़युक्त चावल (गुड़धानी) दिये जाने चाहिए ।

[(१) गुडोदनम् = अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया ।]

मधुपर्क की परिभाषा :—"दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सिता चैतैश्च पञ्चभिः । प्रोच्यते मधुपर्कः"

दही, घृत, जल, शहद और शर्करा यह पाँच द्रव्य मिलकर मधुपर्क प्रस्तुत होता है ।

नक्षत्रेण तु कर्तव्यं मूलेन स्थापनं बुधैः ।
मुहूर्त्तेनानुकूलेन तिथ्या सुकरणेन च ॥४९॥

बुध जनों के द्वारा (मण्डप) का स्थापन मूल नक्षत्र में, अनुकूल मुहूर्त तथा तिथि और शुभकरण में किया जाना चाहिए ।

इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति ३८वें श्लोक की द्वितीय पंक्ति के समान है ।

एवं तु स्थापनं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत् ।
भित्तिकर्मणि निवृत्ते स्तम्भानां स्थापनं ततः ॥५०॥

इस प्रकार स्थापना करके फिर भित्तिकर्म (दीवार उठाने का काम) आरम्भ करे और भित्ति-कर्म समाप्त हो जाने पर स्तंभों (खम्भों) की स्थापना की जाय ।

तिथिनक्षत्रयोगेन शुभेन करणेन च ।
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं रोहिण्या श्रवणेन च ॥५१॥

शुभ तिथि, नक्षत्र और योग तथा शुभकरण में स्तम्भो की स्थापना रोहिणी अथवा श्रवण नक्षत्र में की जानी चाहिए ।

आचार्येण सुयुक्तेन त्रिरात्रोपोषितेन च । उपवास
स्त[1]म्भानां स्थापनं कार्यं प्राप्ते सूर्योदये शुभे ॥५२॥

भली प्रकार से युक्त (अथवा युक्त मतिवाले) नाट्याचार्य के द्वारा जो तीन (दिन और) रात्रियों तक उपवास कर चुके हो – शुभ सूर्योदय काल आ पहुँचने पर स्तम्भो का स्थापन किया जाना चाहिए ।

[(१) ५१वें श्लोक का और ५२वें श्लोक का उत्तरार्द्ध कुछ प्रतियों में नहीं मिलता ।]

प्रथमे ब्राह्मणे स्तम्भे सर्पिःसर्षपसंस्कृते[1] ।
सर्वशुक्लो विधिः कार्यो दद्यात्पायसमेव च[2] ॥५३॥

सर्वप्रथम ब्राह्मण स्तम्भ की स्थापना कीजानी चाहिए। इसका संस्कार घृत और सरसों से किया जाता है । इस सब पूजा (और सजावट) की विधि श्वेतवर्ण की जानी चाहिए और (इसके उपलक्ष में) पायस (खीर) का वितरण (ब्राह्मणो को) किया जाना चाहिए ।

[(१) संस्कृतः = सस्कार किया हुआ । यह पाठ विधि का विशेषण होगा । इसको स्वीकार करने पर श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा। "प्रथम स्तम्भ पर जो कि ब्राह्मणस्तम्भ है, घृत और सरसों के संस्कार से संस्कृत सब पूजा (और सजावट) की विधि श्वेत वर्ण की की जानी चाहिये । शेष अर्थ उपर्युक्त ही होगा । (२) तु = तो ।]

वि० इस श्लोक के पूर्व फ्रेंच विद्वान् (Grosset) के संस्करण में एक श्लोक और मिलता है जो निम्निलिखित है :—

चन्दनं च भवेद् ब्राह्मं क्षात्रं खादिरमेव च ।
धवाख्यं वैश्यवर्णं स्याच्छूद्रं सर्वद्रुमैः स्मृतम् ॥५३॥

ब्राह्मण स्तम्भ चन्दन का, क्षत्रियस्तम्भ खैर का, वैश्यस्तम्भ धाय का तथा शूद्र स्तम्भ सब वृक्षों का कहा गया है।

यह श्लोक केवल एक प्रति में मिलता है; अतएव इसको हमने पाठ्यक्रम में नहीं दिया है। पर आगे चलकर विभिन्न स्तम्भों के जो वर्ण इत्यादि बतलाये गये हैं उनसे इस श्लोक की संगति अवश्य बैठ जाती है। स्पष्ट ही है कि चन्दन का वर्ण श्वेत, खैर का लाल, और धव का पीला होता है। प्राचीन काल में इस प्रकार कुछ विधान प्रचलित था। इसका पता मानसार वास्तुशास्त्र से भी चलता है। इस संबन्ध में मानसार का १५वाँ अध्याय सामान्यरूपेण तथा इसी अध्याय का १७७वाँ श्लोक विशेषरूप से द्रष्टव्य है। उपर्युक्त श्लोक एवं मानसार के साक्ष्य से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में स्तम्भ काष्ठ के (भी) बनते थे।

ततश्च क्षत्रियस्तम्भे वस्त्रमाल्यानुलेपनम्।
सर्वं रक्तं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च गुडौदनम्[1] ॥५४॥

इसके पश्चात् क्षत्रियों के स्तम्भ पर वस्त्र माला और अनुलेपन इत्यादि सभी वस्तुएँ लाल रंग की दी जानी (चढ़ाई जानी) चाहिये और ब्राह्मणों को गुड़धानी प्रदान की जानी चाहिये।

[(१) गुडोदनम् = अर्थ वही है।]

वैश्यस्तम्भे विधिः कार्यो दिग्भागे पश्चिमोत्तरे।
सर्वं[1] पीतं प्रदातव्यं द्विजेभ्यश्च घृतौदनम्[2] ॥५५॥

वैश्यस्तम्भ की स्थापना नाट्यगृह के पश्चिमोत्तर दिग्भाग में होनी चाहिये। इसकी स्थापना के समय सब विधियाँ पीले रङ्ग की वस्तुओं से की जानी चाहियें और ब्राह्मणों को घृत सहित भात दिया जाना चाहिये।

[(१) पीतं सर्वम्। (२) क. घृतोदनम्। ख. घृताशनम् = घृत (-मिला) भोजन। ग. मृताशनम् = मृतक को दिया जानेवाला भोजन। यह अन्तिम पाठ समीचीन नहीं है।]

शूद्रस्तम्भे विधिः कार्यः सम्यक् पूर्वोत्तराश्रये ।
नील[1]प्रायं [2]प्रयत्नेन कृशरा च द्विजाशनम् ॥५६॥

पूर्व तथा उत्तर दिशा के कोण में स्थित शूद्रों के स्तम्भ पर ठीक प्रकार से प्रयत्नपूर्वक प्रायः सब विधि नीले रंग की जानी चाहिए और इसके उपलक्ष में खिचड़ी-ब्राह्मण भोजन के रूप में दी जानी चाहिए।

[(१) नीलप्रायः = अधिकांश में नीली। (२) प्रदातव्य = दी जानी चाहिए। (३) कृसरं = खिचड़ी।]

वि० ५३-५६ श्लोक तक जो स्तम्भों में रङ्गों की व्यवस्था है वह विविध वर्णों की विशेषताओं की सूचक। ब्राह्मण स्तम्भ का श्वेतवर्ण सात्त्विकता और ज्ञान का सूचक है। क्षत्रिय स्तम्भ का लाल रंग राजस् वृत्ति और शौर्य का सूचक है। वैश्यस्तम्भ का पीत वर्ण तो सुवर्ण का ही वर्ण है और धन-संपत्ति की ओर सङ्केत करता है। नीलवर्ण, जिसका सम्बन्ध शूद्र स्तम्भ से है, तामस् वृत्ति का द्योतक है। विभिन्न जातियों के लिए प्रयुक्त होनेवाला वर्ण शब्द स्वयं भी रङ्ग का ही एक पर्याय है। मानसार वास्तुशास्त्र में भी विभिन्न जातियों के वास्तुभेद का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है।

पूर्वोक्त[1]-ब्राह्मस्तम्भे शुक्लमाल्यानुलेपने ।
निक्षिपेत्कनकं मूले कर्णाभरसंश्रयम् ॥५७॥

पहले वर्णन किये गये ब्राह्मण स्तम्भ में, जो कि श्वेत माला और अनुलेप से युक्त है, मूल में कान के आभूषण से सम्बन्ध रखनेवाला सुवर्ण डाले।

[(१) पूर्वे तु = पहले में तो।]

वि० ब्राह्मण का श्रुति (वेद) में विशेष अधिकार है। इसी तथ्य को सूचित करने के लिए संभवतया श्रुति (कान) के आभरण का सुवर्ण ब्राह्मण-स्तम्भ के मूल में डालने की बात कही गई है।

ताम्रं चाधः[1] प्रदातव्यं स्तम्भे क्षत्रियसंज्ञके ।
वैश्य[2]स्तम्भस्यमूले तु रजतं सम्प्रदापयेत् ॥५८॥

क्षत्रिय नामवाले स्तम्भ के मूल में ताँबा देना चाहिए तथा वैश्य स्तंभ की जड़ में चाँदी दिलानी चाहिए।

[(१) चापि = और भी। वैश्यस्य स्तम्भमूले = वैश्य के स्तम्भ की जड़ में।]

शूद्र[1]स्तम्भस्य मूले तु दद्यादायसमेव च।
शेषे[2]ष्वपि च निक्षेप्यं स्तम्भमूलेषु[3] काञ्चनम् ॥५९॥

शूद्र स्तम्भ की जड़ में लोहा देवे। और शेष स्तम्भों की मूल में भी सोना डालना चाहिए।

[(१) शूद्रस्य स्तम्भमूले = शूद्र के स्तम्भ की जड़ में। (२) शेषेष्वेव तु निक्षिप्तं स्तम्भमूले तथैव च = और शेष स्तम्भों के मूलों में भी उसी प्रकार डाला हुआ हो। शेषेष्वपि तु निक्षिप्तं स्तम्भमूले तु काञ्चनम् = शेष स्तम्भमूलों की जड़ में भी सोना डाला हुआ हो। (३) स्तम्भमूले तु = स्तम्भ की जड़ में।

स्वस्तिपुण्याहघोषेण जयशब्देन चैव हि।
स्तम्भानां स्थापनं कार्यं पुष्पमालापु[1]रस्कृतम् ॥६०॥

स्वस्ति (= भला हो) और पुण्याह (= शुभ दिन हो) शब्द के घोष के साथ तथा जय शब्द के साथ, पुष्पमालाओं से सजे हुए (अथवा पुष्पमालाओं के सहित) स्तम्भों का स्थापन करना चाहिये।

[(१) पर्णमाला = पत्तों की माला। इस श्लोक से लेकर १२ श्लोक कुछ प्रतियों में नहीं मिलते।]

रत्नदानैः सगोदानैर्वस्त्रदानैरनल्पकैः।
ब्राह्मणांस्त[1]र्पयित्वा तु स्तम्भ[2]मुत्थापयेत् ततः ॥६१॥

अनल्प (= जो थोड़े न हों ऐसे) गोदानों के सहित रत्नदानों तथा वस्त्र-दानों द्वारा ब्राह्मणों को तृप्त करके तदुपरान्त स्तम्भों को उठाये।

[(१) स्थापयित्वा = स्थापित अथवा प्रतिष्ठित करके। (२) स्तम्भान् = स्तम्भों को।]

अचलं चाप्यकम्प्यं च तथैवाच[1]लितं पुनः।

स्तम्भस्योत्थापने सम्यग्दोषा ह्येते प्रकीर्तिताः ॥६२॥

(स्तम्भ को इस प्रकार उठाये कि वह) अचल भी हो और अकम्प भी और फिर वैसे ही अचलित भी हो। स्तम्भ को ठीक प्रकार से उठाने में यह (निम्नलिखित) दोष कहे गये हैं।

[(१) अवलित = जो झुका या मुड़ा हुआ न हो। यह पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।]

वि० जो स्वतः चलायमान न हो उसको अचल कहते हैं। अकम्प्य वह स्तम्भ होगा जो किसी अन्य व्यक्ति अथवा आँधी इत्यादि के द्वारा कम्पित न किया जा सके। अवलित वह होगा जो बोझ इत्यादि के कारण झुक या मुड़ न जाये अथवा जिसमें झूर्रियाँ न पड़ी हो।

अवृष्टिरुक्ता चलने वलने मृत्यु[१]तो भयम्।
कम्पने परचक्रात्तु भयं भवति[२] दारुणम् ॥६३॥

यदि स्तम्भ चलायमान हो तो अवृष्टि (वर्षा न होना) फल कहा है मुड़ जाने पर मृत्यु से भय हो तथा स्तम्भ में कम्पन होने पर शत्रुमंडल से दारुण भय होता है।

[(१) मृतितो = मरण से। (२) वदति = (शास्त्र) कहता है।]

दोषैरेतैर्विहीनं स्तम्भमुत्थापयेच्छिवम्।
पवित्रं ब्राह्मस्तम्भे दातव्या दक्षिणा च गौः ॥६४॥

इन (उपर्युक्त) दोषों से रहित शिव (कल्याणकारी और पवित्र स्तम्भ को उठाये (= स्थापित करे। ब्राह्मणों के स्तम्भ की (स्थापना, उत्थापना) में गौ की दक्षिण दी जानी चाहिये।

शेषाणां भोजनं कार्यं स्थापने कर्तृसंश्रयम्।
मंत्र[१]पूतं च तद्देयं नाट्याचार्येण धीमता ॥६५॥

शेष स्तम्भों की स्थापना में बनानेवालों के लिये भोजन प्रस्तुत किया जाना चाहिये और मंत्रों से शुद्ध वह भोजन बुद्धिमान नाट्याचार्य द्वारा उनको दिया जाना चाहिये।

[(१) मंत्रपूर्वम् = मंत्रोच्चार सहित।]

वि० वास्तुशास्त्र के अनुसार प्रासादों और भवनों के विभिन्न अंशों के विभिन्न देवता माने गये हैं। इह देवताओं के लिये बहुत से मंत्र मानसार में स्थान स्थान पर दिये हुए हैं।

पुरोहितं नृपं चैव भोजयेन्मधु पायसम्[१]।
कर्तृनपि तथा सर्वान् कृसरं लवणोत्तरम्[२] ॥६६॥

पुरोहित और राजा को मधुयुक्त खीर खिलावे तथा सब (काम) करनेवालों नमक के युक्त खिचड़ी।

[(१) मधुपायसैः = शहद और खीर से। (२) कृसरां लवणोत्तराम् = नमक से युक्त खिचड़ी को।]

सर्वमेवं[१] विधिं कृत्वा सर्वतोद्यैः प्रवादितैः।
अभिमन्त्र्य यथान्यायं स्तम्भमुत्थापयेच्छुचि ॥६७॥

इस प्रकार सब विधियों को पूरा करके सब बाजे बजवाकर स्तम्भ को निम्नलिखित मंत्र से अभिमंत्रित करके नीति (= न्याय) के अनुसार उठवाए अर्थात् स्थापित करवाए।

[(१) सर्वमेव = सब ही।]

यथाचलो[१] गिरिर्मेरुर्हिमवांश्च महाबलः।
जयावहो नरेन्द्रस्य तथा त्वमचलो भव[२]॥६८॥

"जिस प्रकार मेरु पर्वत अचल (स्थिर) है और हिमवान् पर्वत महाबलवान् है (हे स्तम्भ) तू भी उसी प्रकार अचल और राजा के लिये जय प्राप्त करानेवाला हो।]

[(१) गुरुः = भारी, बड़ा। (२) वह = वहन कर, धारण कर।]

मीमांसा के अनुसार अभिमंत्रण की पद्धति निम्नलिखित है :—

मंत्रमुच्चारयन्नेव मंत्रार्थत्वेन संस्मरेत्।
शेषिणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदभिमंत्रणम् ॥

अर्थात् जिस पदार्थ को अभिमंत्रित करना हो, मंत्र का उच्चारण करते हुए उस पदार्थ को मंत्रार्थ से तन्मनस्क होकर भावित करे—यह अभिमंत्रण होता है।

मानसार वास्तुशास्त्र में स्तम्भ संबन्धी मंत्र इससे भिन्न है। देख, मा० वा० १५।२१३-४। पर मेरु शब्द का प्रयोग उस मंत्र में भी हुआ है।

स्तम्भद्वारं च भित्तिं च नेपथ्यगृहमेव च।
एवमुत्थापयेत्तज्ज्ञो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥६९॥

नाट्यमण्डप के निर्माण की विधि को जाननेवाला इस प्रकार विधि के अनुसार किये हुए कर्म से स्तम्भ, द्वार, भित्ति (दीवार) तथा नेपथ्य गृह को चिनवाए।

रङ्गपीठस्य पार्श्वे[1] तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता रङ्गपीठप्रमाणतः ॥७०॥

रङ्गपीठ की बगल में मत्तवारणी बनानी चाहिये जो माप में रङ्गपीठ के बराबर हो तथा चार स्तम्भों से युक्त हो।

[(१) पश्चात=पीछे (स्थान मे अथवा समय में।)]

52

अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्यामत्तवारणी।
उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रङ्गमण्डपम् ॥७१॥

मत्तवारणी की (कुर्सी) की ऊँचाई डेढ़ हाथ होनी चाहिए तथा उन्हीं दोनों की ऊँचाई के समान ऊँचाईवाला रङ्गमंडप बनाया जाना चाहिए।

वि० उत्सेधेन तयोस्तुल्यं के अर्थ दो हो सकते हैं (१) मत्तवारणी और रङ्गपीठ की ऊँचाई तथा (२) रङ्गपीठ के दोनों पार्श्वों में स्थित दोनों मत्तवारणियों की ऊँचाई।

तस्यां[1] माल्यं च धूपं[2] च गन्धं वस्त्रं तथैव च।
नाना[3] वर्णाणि देयानि तथा भूतप्रियो बलिः[4] ॥७२॥

उस मत्तवारणी (के निर्माण के समय) मालाएँ, धूप, गंध और उसी प्रकार वस्त्र भी (अनेकों रङ्गों के) दिये जाने चाहिए तथा सब भूतों को प्रिय लगनेवाली बलि भी दी जानी चाहिए।

[(१) तस्य=उस (रङ्गमण्डप) की। (२) वस्त्रं च गन्धमाल्यं च=

वस्त्र तथा गन्ध और मालाएँ। (३) मनोवर्णानि = मन को प्रिय लगने-वाले वर्ण। (४) बलिम् = बलि को।]

आयसं[1] तत्र दातव्यं स्तभानां कुशलैरधः।
भोजने[2] कृसरा चैव दातव्या ब्राह्मणाशनम् ॥७३॥

कुशल निर्माताओं के द्वारा स्तम्भों के नीचे लोहा दिया जाना चाहिए तथा ब्राह्मणों का जो खाना हो उस भोजन में खिचड़ी ही दी जानी चाहिए।

[(१) क. आयसं ताम्र (तत्र ?) = ताँबा धातु। ख. पायसं चात्र = और यहाँ खीर। (२) क. भोजनं कृसरां; ख. भोजने कृसरं; ग. भोजने कृशरा = अर्थ ऊपर दिया जा चुका है।]

एवं विधिपुरस्कारैः कर्तव्या मत्तवारणी।

इस प्रकार सब (विधियों) नियमों के अनुसार मत्तवारणी बनाई जानी चाहिए।

वि० मतवारणी अथवा मत्तवारुणी क्या है ? पुराने संस्कृत कोशों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। मतवारण शब्द अवश्य मिलता है पर इसके एक नहीं अनेक अर्थ होते हैं—जैसे अट्टालिका, वरण्डा इत्यादि। मानसार वास्तु-शास्त्र में लिखा है :—

कपोतं प्रस्तरं चैव मञ्चं प्रच्छादनं तथा।
गोपानं च वितानं च वलभी मत्तवारणम्।
विधानं च लुपं चैवमेते पर्यायवाचकाः ॥१६।९-१०॥

इन पर्यायवाची शब्दों के अर्थ भी इतने विविध प्रकार के होते हैं कि मत्तवारण का अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत प्रकरण में इतना स्पष्ट है मत्तवारणी रङ्गपीठ के पार्श्व (बगल) में दोनों ओर होनी चाहिए और चार स्तंभो से युक्त होनी चाहिए। इनकी कुर्सी की ऊँचाई डेढ़ हाथ होनी चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मत्तवारणी रङ्गपीठ की अगल-बगल में दो वराण्डे होते थे। आचार्य अभिनव गुप्त से मत्तवारणी का वर्णन ७०वें और ८२वें श्लोक की टीका में किया है। ८२वें श्लोक

की टीका में उन्होने "इति केचित्" और "इत्यन्ये" कहकर मतभेद उपस्थित किये हैं। इससे यह सूचित होता है उनके समय में भी मत्तवारणी के स्वरूप की एक निभ्रान्त कल्पना नहीं थी।

रङ्गपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥७४॥
रङ्गशीर्षं तु कर्तव्यं षट्दारुक समन्वितम्।
कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु[1] ॥७५॥

तत्पश्चात् विधि के द्वारा कहे गये कर्मों (कामों) के अनुसार रङ्गपीठ का निर्माण किया जाना चाहिये। ६ लकड़ी के खम्भों से युक्त रङ्गशीर्ष बनाया जाना चाहिये और इसमें नेपथ्य-गृह के दो द्वार बनाने चाहिये।

[(१) च = और।]

पूरणे मृत्तिका चात्र कृष्णा देया प्रयत्नतः।
लाङ्गलेन समुत्कृष्य निर्लोष्टतृण[2]शर्करम् ॥७६॥
लाङ्गले शुद्ध[3]वर्णौ तु धुर्यौ योज्यौ प्रयत्नतः।
कर्त्तारः पुरुषाश्चात्र[4] येऽङ्गदोषविवर्जिताः ॥७७॥
अहीनाङ्गैश्च वोढव्या मृत्तिका पी[5]वरैर्नरैः।
एवं [6]विधं प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नतः ॥७८॥

इस रङ्गशीर्ष में भरने के लिये, हल से जोत कर, ढेलों, तिनकों और कंकड़ों से रहित की हुई काली मिट्टी यत्न से डाली जानी चाहिये। हल में शुद्ध वर्ण (श्वेतवर्ण) के बैल यत्नपूर्वक जोते जाने चाहिये तथा इस (हल चलाने के काम) में ऐसे पुरुष लगाये जाने चाहिये जो अङ्ग-दोष से रहित हों। (हल चलाये हुए खेत में) मिट्टी ऐसे सुदृढ़ बलवान पुरुषों के द्वारा ढोई जानी चाहिये जो अङ्गहीन न हों। इस प्रकार रङ्गशीर्ष प्रयत्न से बनाया जाना चाहिये।

[(१) पूरेण = बाढ़ से, अथवा तालाब से। (२) क. शर्करा =

कंकड़ । ख. क (श) र्करीम् = कंकड़ को । (३) शुद्धवर्णे = शुद्ध वर्णवाले (हल) में । (४) तत्र = वहाँ, उस काम में । (५) क. पिटकैर्नवैः = नई टोकरियों से । ख. पीठकैर्नवैः = नये पीढ़ों से ? (६) क. एवं विधिः = इस प्रकार । ख. एवंविधैः = इस प्रकार के (मनुष्यों के) द्वारा ।]

कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च ।
शुद्धादर्शतला[1]कारं रङ्ग[2]शीर्षं प्रशस्यते ॥७९॥

रङ्गशीर्ष को न तो कछुए की पीठ के समान (बीच में अधिक उभरा हुआ) और न मछली की पीठ के समान (कम उभरा हुआ) बनाना चाहिये । शुद्ध दर्पण के समान समतल धरातलवाला रङ्गशीर्ष प्रशंसा के योग्य होता है ।

[(१) तलप्रख्यम् = दर्पण के तल के समान दिखलाई देनेवाला । (२) रङ्गपीठम् = रङ्गमंच अथवा रङ्गशीर्ष ।]

रत्नानि चात्र देयानि पूर्वे[1] वज्रं[2] विचक्षणैः ।
वैदूर्यं[3] दक्षिणे पार्श्वे[4] स्फटिकं पश्चिमे तथा ॥८०॥
प्रवालमुत्तरे चैव मध्ये तु कनकं भवेत् ।
एवं रङ्गशिरः कृत्वा दारुकर्म प्रवर्त्तयेत्[5] ॥८१॥

चतुर निर्माताओं के द्वारा इस (रङ्गशीर्ष) के नीचे रत्न भी (रखे) दिये जाने चाहिए और वे इस क्रम से कि पूर्व में हीरा, दक्षिण पार्श्व में वैदूर्य, पश्चिम में स्फटिक तथा उत्तर में मूँगा और मध्य (अर्थात् केन्द्र में) सोना । इस प्रकार रङ्गशीर्ष की रचना करके (दारुकर्म) लकड़ी का काम आरम्भ करना चाहिये ।

[(१) पूर्वम् = पूर्व दिशा में । (२)वज्रविचक्षणैः = रत्न को जाननेवाले चतुर मनुष्यों द्वारा । (३) वैडूर्यं = वैदूर्यम् । (४) चैव = और भी । (५) प्रयोजयेत् = चालू करे ।]

वि० प्राचीनकाल में वास्तुशास्त्र के अनुसार स्तम्भ इत्यादि के मूल में रत्नों को रखने की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी । मानसार वास्तु-

शास्त्र में इसका उल्लेख विस्तार के साथ किया गया है। इस क्रिया को रत्नाधिवासन कहते थे। (देखो मानसार-वास्तुशास्त्र पृ० १०८,१०९।)

ऊहप्रत्यूह संयुक्तं नानाशिल्पप्रयोजितम्।
नाना[1]संजवनोपेतं बहुव्यालोपशोभितम् ॥८२॥
अट्टाल[2]भंजिकाभिश्च समन्तात्समलंकृतम्।
निर्व्यूह[3]कुहरोपेतं नानाग्रथितवेदिकम् ॥८३॥
नानाविन्याससंयुक्तं यंत्रजालगवाक्षकम्।
सुपीठ[4]धारणीयुक्तं कपोतालिसमाकुलम् ॥८४॥
नानाकुट्टिमविन्यस्तैः स्तम्भैश्चाप्युपशोभितम्।
एवं कष्ठविधिं कृत्वा भित्तिकर्म प्रयोजयेत्[5]॥८५॥

यह लकड़ी का काम बहुत कुछ सोच-विचार तथा परीक्षण निरीक्षण इत्यादि के साथ होना चाहिए। इसमें बहुत से शिल्पो का प्रयोग किया जाना चाहिए। अनेको चौको से यह युक्त होना चाहिए और बहुत से लकड़ी के बने हुए हाथियो से सुशोभित। सब ओर यह अट्टालिका की पुतलियो (लकड़ी की बनी हुई स्त्रियो की मूर्त्तियो) से सजा हुआ होना चाहिए। यह अनेक निर्यूहो के कुहरो से युक्त होना चाहिए और उसमें बहुत-सी वेदिकाएँ भी गुही होनी चाहिए। अनेकों प्रकार की विशेष रचनाओ से युक्त उसमें यंत्रवाली जाली से युक्त झरोखे और खिड़कियाँ होनी चाहिए। अच्छे आसनों की पंक्तियो से वह युक्त होना चाहिए और कबूतरों की छतरियों से भरा हुआ होना चाहिए। यह कुट्टिम (फर्श) पर अनेको स्थलो पर स्थापित बहुत से स्तम्भों से भी उपशोभित होना चाहिए। इस प्रकार काष्ठ का कार्य पूर्ण करके भित्तिकर्म (दीवारें बनाने का कार्य) आरम्भ कराये।

[(१) नानाभञ्ज(रज्ज) वरोपेतम् = अनेक प्रकार के विभागो अथवा पुतलियों से युक्त। नानासज्जवरोपेतम् = अनेको सजावटों से युक्त। (२) अट्टालम् = अट्टालिका। इस पंक्ति के स्थान पर यह पाठ भी मिलता है— भवेयुश्चात्र विन्यस्ता विविधाः शाल (साल) भंजिकाः = और यहाँ अनेक

प्रकार की पुतलियाँ बनी हुई हो। (३) निर्व्यूहकुहरोपेतम् = निश्चय प्रकार से व्यवस्थापित छिद्रों से युक्त। (४) धारणि = कड़ी, शहतीर। (५) प्रवर्त्तयेत् = चालू करे, प्रारम्भ करे।]

इन श्लोकों का अर्थ बहुत कुछ संदिग्ध है। निर्यूह कुहरोपेतम् अथवा निर्यूहकुहरोपेतम् का अर्थ लकड़ी में कोर कर बनाई हुई खुदाई भी हो सकता है। निर्यूह शब्द का संबन्ध वास्तुशास्त्र से अवश्य है पर इसके अर्थ अनेक हैं। यह एक शिरोभूषण का भी नाम है और वास्तुशास्त्र (मानसार) में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। दीवार में लगी खूँटी को भी निर्यूह नाम दिया गया है। दीवार में चुनी हुई तथा कुछ बाहर निकली हुई उस लकड़ी को भी निर्यूह कहते हैं जिस पर कबूतर बैठते और अपना घोंसला बनाते हैं। इस शब्द का एक अर्थ द्वार भी है। शिशुपालवध ३।५५ में जहाँ "वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः" समास में यह शब्द आया है वहाँ मल्लिनाथ ने इसका अर्थ "मत्तवारणाख्य उपाश्रयः" किया है। इससे सिद्ध हुआ कि मत्तवारण और निर्यूह पर्यायवाची शब्द हैं। "नानाग्रथितवेदिकम्" का अर्थ लकड़ी पर उभरी हुई रचना भी हो सकता है। यंत्र शब्द का अर्थ कुंडी या साँकल भी होता है। कपोताली का रूपान्तर कपोतपालिका भी है। इस विवरण से इतना स्पष्ट है कि उस समय में सम्पन्न नागरिकों के गृहों में जो दृश्य पाया जाता था उसको रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया जाता था।

स्तम्भं वा नागदन्तं वा वातायनमथापि वा।
कोणं[१] वा सप्रतिद्वारं द्वारविद्धं[२] न कारयेत् ॥८६॥

स्तम्भ (खंभा), खूँटी, खिड़की, कोना अथवा द्वार किसी अन्य द्वार के सम्मुख नहीं होना चाहिये।

[(१) कार्ष्णायसम् = लोहे का बना हुआ। (२) दारुविद्धम् = लकड़ी से बिंधा हुआ।]

वि० अभिनवगुप्त ने दूसरी पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है :— प्रतिद्वारमवान्तरद्वारं, द्वारेणविद्धं परस्परसम्मुखीभूतमध्यं न कुर्यात्। नाग-

दन्त की व्याख्या अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—नागदन्तं स्तम्भोर्ध्वनीप (च) स्थांशकं पुत्रिकाधारणार्थं गजमुखम्। सामान्यतथा प्राचीनकाल में खूँटियाँ हाथी के दाँत के आकार की बनाई जाती थीं अतएव उनका नाम नागदन्त पड़ गया।

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्द[1]वान् ॥८७॥

नाट्यमण्डप की दो भूमियाँ (दो मंज़िलें ?) होनी चाहिये और उसका आकार पर्वत की गुफ़ा के सदृश होना चाहिये। वह मन्दवायु का प्रवेश करानेवाली खिड़कियों से युक्त होना चाहिये, (अधिक वेगवान्) वायु से रहित और धीरशब्दवाला होना चाहिये।

[(१) धीरशब्दभाक् = धीर शब्दवाला कहा जाने योग्य।]

वि० प्राचीनकाल में रंगशालाएँ पर्वत की गुफाओं में भी बनाई जाती होंगी। रामगढ़ पर्वत में सीताबेंगा नामक गुफा में इस प्रकार एक नाट्यगृह पाया गया है। इसका समय ईसा से पूर्व ही माना जाता है। यह नाट्यमण्डप दोमंजिला होता था ऐसा कुछ लोगो का मत है। प्राचीन नाटको में ऐसे दृश्य मिलते हैं जो द्विभूमि (दोमंजिले) नाट्यमण्डपों में ही अभिनीत हो सकते थे। इसके विपरीत कुछ अन्य विद्वानों का मत यह है कि द्विभूमि का अर्थ है रङ्गमञ्च ऊँचे-नीचे दो प्रकार के धरातलो का होता था। नेपथ्य और रङ्गशीर्ष का तल एक सा नहीं होता था। कुछ विद्वान् रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ को एक ही वस्तु के पर्यायवाची मानते हैं। उनके मत में नेपथ्य रङ्गशीर्ष और पार्श्वस्थ मत्तवारणियाँ समतल नहीं होती थीं; नेपथ्य और मत्तवारणियाँ, रङ्गशीर्ष की अपेक्षा डेढ़ हाथ अधिक ऊँचे धरातलवाली होती थीं तथा रङ्गशीर्ष (या रङ्गपीठ) का धरातल १½ हाथ अधिक नीचा होता था और इस प्रकार नाट्यमण्डप द्विभूमि होता था। जो व्यक्ति रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ एक दूसरे से भिन्न मानते हैं उनके मत में रङ्गपीठ का धरातल नेपथ्य, रङ्गशीर्ष और मतवारणियों से १½ हाथ अधिक नीचा होता था। इस सबके प्रतिकूल कुछ

विद्वान् इस श्लोक के शब्दो को इस प्रकार पढ़ते हैं "....शैलगुहाकारोऽ द्विभूमिः....।" इसका अर्थ यह है कि नाट्यमण्डप दो मंजिलवाला नहीं (एक मंजिलवाला ही) होना चाहिए। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में इन तीनो मतो का उल्लेख किया है। नाटको में रङ्गावतरण जैसे शब्दो का प्रयोग देखकर कुछ विद्वानो ने यह कल्पना की है कि रङ्ग-स्थल नेपथ्य की अपेक्षा नीचा होता था। इसके विपरीत कुछ लोगो का विचार यह भी है कि रङ्गपीठ आस-पास की भूमि से अधिक ऊँचा होता था।

तस्मान्निवातः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।
गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति ॥८८॥

बनानेवालो के द्वारा नाट्यमण्डप वायु शून्य इसलिए बनाया जाना चाहिए कि जिससे गाने और बाजो के स्वर को गंभीरता प्राप्त हो।

[(१) गाम्भीर्यं सुस्वरत्वं च कुतपस्य भवेदिति = इसलिए कि बाजे के नाद में गम्भीरता और सुस्वरता आ जाए।]

वि० अभिनवगुप्ताचार्य ने कुतप शब्द का अर्थ इस स्थान पर इस प्रकार किया है—कुतपः संफेट (संपेट) गायनवाद (न) कसमूहः, कुर्नाट्य भूमिस्तपन् द्दशिवती ? उज्ज्वलयतीति कृत्वा ? (इति कुतपः) कुतं शब्दं पातीत्यन्ये। अर्थात् (१) कुतप गायन और बाजों के मिले शब्द (नाद) का समूह है (२) अथवा जो नाट्यभूमि को उज्ज्वल करता है वह कुतप कहलाता है अथवा (३) जो शब्द की रक्षा करता है वह कुतप है। पर अन्य स्थलो पर अभिहनवगुप्त ने कुतप का अर्थ चार प्रकार के बाजे किया है।

[मण्डपे विप्रकृष्टे तु पाठ्यमुच्चरितस्वरम्।
अनभिव्यक्तवर्णत्वाद्विस्वरत्वं भृशं व्रजेत् ॥]

यह श्लोक इसी अध्याय के २२ श्लोक के उतरार्द्ध और २३ के पूर्वार्द्ध की द्विरुक्ति मात्र है। इसका अर्थ वहीं देखना चाहिए। कुछ प्रतियों

में यह श्लोक प्रक्षिप्त कहकर उद्धृत किया गया है। स्पष्ट ही यह यहाँ पर अनावश्यक है।

भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत्।
सुधा[1] कर्म बहिस्त[2]स्य विधा[3]तव्यं प्रयत्नतः ॥८९॥

भित्तिकर्म पूरा करके दीवारो पर लेप—प्लास्टर—दिलवाये। उस लेप के बाहर (=ऊपर) सफेदी पुताई का कार्य यत्नपूर्वक करना चाहिए।

[(१) सुधाकर्मविधिः=पुताई का काम। (२) तथैवास्य=इसी प्रकार उसका। (३) कुर्याद्बाह्यम्=बाहर (ऊपर) करे।]

वि० भित्तिलेप (दीवारो का प्लास्टर) बालू और सीप का होता था ऐसा अभिनवभारती में बतलाया गया है।

भित्ति[1]ष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः।
समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत्[2] ॥९०॥

दीवारो के लेपयुक्त, सब ओर से मंजी-पुछी, सम और शोभायुक्त हो जाने पर उन पर चित्राङ्कन कार्य आरम्भ कराये।

[(१) भित्तिष्वपि च लिप्तासु=भित्तियो पर भी लेप हो जाने पर। (२) प्रवर्त्तयेत्=आरम्भ कराये।]

चित्रकर्मणि चालेख्या पुरुषाः स्त्री[1]जनास्तथा।
लताबन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभो[2]गजम् ॥९१॥

चित्रकर्म में पुरुषो तथा स्त्रीजनो के आलेख्य बनाये जाने चाहिए। लताबन्ध तथा आत्मभोग से उत्पन्न होनेवाले चरितों का अङ्कन किया जाना चाहिए।

[(१) स्त्रीजनः=स्त्रीयो का समूह। (२) भोगजम् ?]

वि० लताबन्ध अथवा लतावेष्टन मैथुन का एक प्रकार है। आत्मभोगजम् का अर्थ भी स्त्री-पुरुषो की विलास क्रीडा ही है। इस चित्रकर्म के वर्णन की तुलना अजन्ता के चित्रों से की जा सकती है।

एवं विकृष्टं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः
अतः[1] परं प्रवक्ष्यामि चतुरस्रस्य लक्षणम् ॥९२॥

प्रयोक्ताओं (वास्तुशास्त्र का प्रयोग करनेवालों) के द्वारा विकृष्ट प्रकार का नाट्यगृह इस प्रकार बनाया जाना चाहिए। इसके पश्चात् मैं अब चतुरस्र (चौकोर अथवा चौरस) नाट्यगृह का लक्षण कहूँगा।

[(१) पुनरेव हि वक्ष्यामि = मैं अब फिर कहूँगा।]

समन्ततस्तु कर्तव्यो हस्ता द्वात्रिंशदेव तु।
शुभभूमिविभागस्थो नाट्यज्ञैर्नाट्य मण्डपः ॥९३॥

चतुरस्त्र प्रकार का नाट्यमण्डप नाट्य को जाननेवालो के द्वारा शुद्ध भूमि के विभाग में स्थित तथा चारों ओर (चारो भुजाओ में) ३२ बत्तीस हाथ का बनाया जाना चाहिए।

[(१) समन्तश्च कर्त्तव्या = चारों ओर नापकर बनाना चाहिए।]

६२ और ६३ श्लोकों की पंक्तियों का क्रम कुछ पुस्तकों में इस प्रकार भी है–(१)–अतःपरं...(२) समन्ततस्तु...(३) एवं विकृष्टं...(४) शुभभूमिविभागस्थो......।

यो विधिः पूर्वमुक्तस्तु लक्षणं मङ्गलानि[१] च।
वि[२]कृष्टे तान्यशेषाणि चतुरस्रेऽपि कारयेत् ॥९४॥

जो विधि लक्षण और मङ्गल कार्य पहले विकृष्ट नाट्यगृह के विषय में कहे जा चुके हैं, वे सब के सब अशेषतया चतुरस्त्र नाट्यगृह में भी करवाए।

[(१) मण्डलानि = मण्डल। (२) चतुरस्र तान्येव कारयेन्नाट्य-वेश्मनः = वही सब चतुरस्त्र नाट्यगृह के भी करवाए।]

चतुरस्रं समं कृत्वा सूत्रेण प्रविभज्य च।
बाह्यतः सर्वतः कार्या भित्तिः श्लिष्टेष्टका[१] दृढा ॥९५॥

चतुस्र नाट्यगृह को चारों ओर सम करके तथा सूत्रद्वारा उसका विभाजन करके उसके बाहर श्लिष्ट (भली भाँति सटी हुई या चिपकी हुई) इंटों से दृढ़ दीवार बनानी चाहिये।

[(१) श्लिष्टेष्टकादयः = चिपकी हुई इंटें आदि।]

तत्राभ्यन्तरतः कार्या रङ्ग[१]पीठे यथादिशम्।

६

दश प्रयोक्तृभिः स्तम्भाः शक्ताः[2] मण्डपधारणे ॥९६॥

उसमें भीतर की ओर रङ्गपीठ में दिशा के विचार के अनुसार बनानेवालों के द्वारा दस स्तम्भ निर्माण किये जाने चाहिये जो मण्डप को धारण करने में समर्थ हों।

[(१) रङ्गपीठोपरिस्थिताः = रङ्गपीठ के ऊपर स्थित। रङ्गपीठं परिस्थिताः = रङ्गपीठ के सब ओर स्थित। कार्यं (र्या) रङ्गपीठं परिस्थिता = जो रङ्गपीठ बनाया जाना है उसके चारों ओर स्थित। (२) शस्ता मण्डप-लक्षणे = जो मण्डप के लक्षण में कहे गये हैं अथवा जो मण्डप के लक्षण में प्रशंसित अथवा अच्छे बतलाये गये हैं। शस्तामण्डपधारणे = जो मण्डप धारण करने के लिये अच्छे या प्रशस्त हों।

दश-स्तम्भ कहाँ और किस प्रकार स्थापित किये जाने चाहिये यह स्पष्टतया नहीं बतलाया गया है। दश संख्या से दश दिशाओं की ओर सङ्केत प्रतीत होता है परन्तु अधः और ऊर्ध्व दिशाओं के स्तम्भ भूतल पर स्थापित नहीं किये जा सकते। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि आठ स्तम्भ दिशाओं और विदिशाओं में और दो मध्यभाग में हो सकते हैं। पर निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

स्तम्भानां बाह्यत[1]श्चापि सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥९७॥

स्तम्भों से बाहर की ओर प्रेक्षकों (दर्शकों, सामाजिकों) के बैठने के लिये सीढ़ियों के आकार का पीठक ईंटों और लकड़ियों से बनाना चाहिये।

[(१) बाह्यतः स्थाप्यम् = बाहर की ओर स्थापित किया जाना चाहिये।]

हस्तप्रमाणैरुत्सधैर्भूमिभागसमुत्थितैः।
रङ्गपीठा[1]वलोक्यं तु कुर्यादासनिकं[2] विधिम् ॥९८॥

भूमि भाग (धरातल) से एक हाथ ऊँची उठती हुई सीढ़ियो द्वारा दर्शको की आसनिक विधि (बैठने का प्रबन्ध) करे जिनसे रङ्गपीठ को भली भाँति देखा जा सके।

[(१) रङ्गपीठविलोक्यम् = रङ्गपीठ (= स्टेज) को देखने योग्य। (२) आसनजम् = आसन से उत्पन्न होनेवाला।]

वि० आशय यह है कि दर्शको के आसनों की प्रथम पंक्ति (= सोपान या सीढ़ी) पृथ्वीतल से एक हाथ ऊँची होनी चाहिए, दूसरी पंक्ति प्रथम पंक्ति से एक और हाथ ऊँची होनी चाहिए। इसी प्रकार शेष सोपान भी होने चाहिए। ग्रीक थियेटर में भी दर्शकों के बैठने का प्रबन्ध इसी प्रकार का होता था।

षड[1]न्यानन्तरे चैव पुनः स्तम्भान्यथादिशम्।
विधिना स्थाप[2]येत्प्राज्ञो दृढान्मण्डप[3]धारणे ॥९९॥

और फिर (नाटयगृह के भीतर) चतुर-विद्वान् ६ और दूसरे स्तम्भों को दिशाओ के अनुसार स्थापित करे, जो स्तम्भ मण्डप को धारण करने में दृढ़ हो।

[(१) षडन्यान् सुन्दरान् दद्यात् = दूसरे ६ सुन्दर स्तम्भो को देवे। (२) क. धारयेत् तज्ज्ञः = उनको जाननेवाला धारण करे। ख, स्थापयेत्तज्ज्ञः = उनको जाननेवाला स्थापित करे। (३) मण्डपधारणान् = मण्डप धारण करनेवाले (स्तम्भों को।)]

अष्टौ स्तम्भान् पुनश्चैव तेषामुपरि क[1]ल्पयेत्।
विद्धास्य[2] मष्टहस्तं च पीठं तेषु ततो न्यसेत् ॥१००॥

और फिर उनके ऊपर आठ स्तम्भों की स्थापना करे और उन पर बिंधे मुखवाले आठ हाथ के रङ्गपीठ को स्थापित करे।

[(१) कारयेत = बनवाए। (२) संस्थाप्यं च पुनः पीठमष्टहस्तप्रमाणतः = और फिर आठ हाथ का पीठ (उन पर) स्थापित किया जाना चाहिए। उत्तरार्द्ध श्लोक का यह पाठ अधिक समीचीन है।]

वि० विद्धास्यम् = मुख विंधा हुआ। अर्थात् जिसके अग्रभाग में स्तम्भ स्थापित हो।

तत्र स्तम्भाः प्रदातव्यास्तज्ज्ञैमण्डपधारणे।
धारणीधारणास्ते च शालस्त्रीभिरलङ्कृताः ॥१०१॥

नाट्यगृह के निर्माण की विधि को जाननेवालो के द्वारा वहाँ मण्डप को धारण करने के लिए स्तम्भदिये (बनवाये) जाने चाहिए, जो शहतीरों को अपने ऊपर धारण करनेवाले तथा शालस्त्रियो (शालमंजिकाओ) से अलंकृत हो।

[(१) धारिणीधारिता ते च = और वे शहतीरो पर रखे हुए हो। अथवा बद्धियो से बँधे हुए हो।]

वि० धारणी शब्द के वास्तुशास्त्र में अनेक अर्थ हैं। धारण शब्द स्तम्भ का पर्यायवाचक है। शालस्त्री, शालभञ्जी, अथवा शालभञ्जिका स्त्रियों की मूर्तियों के कहते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसका अर्थ लिखा है "काष्ठमय्यः कांताप्र (ति) कृतयः = काष्ठ की बनी हुई स्त्रियों की प्रतिकृति। इन प्रतिकृतियों के साथ वृक्ष भी वेष्टित दिखलाया जाता है। यह स्तम्भों के शीर्ष के ब्रैकेट पर उत्कीर्ण मिलती हैं। इनके लिए डा० स्टैला क्रामिश के हिन्दू टैम्पिल नामक ग्रंथ के १८ और ६० संख्यक चित्रफलक देखने चाहिये। यह सम्भवतया उपवन में विचरण करती हुई रमणियों की प्रतिकृतियाँ हैं। शालभंजिका का एक अर्थ वेश्या भी होता है।

नेपथ्यगृहकं चैव ततःकार्यं प्रय[1]त्नतः।
द्वारं चैकं[2] भवेत्तत्र रङ्ग[3]पीठप्रवेशनम् ॥१०२॥
जनप्रवेशनं चैवमा[4]भिमुख्ययेन कारयेत्।
रङ्गस्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु ॥१०३॥

और तब (उपर्युक्त निर्माण के पश्चात्) प्रयत्नपूर्वक नेपथ्यगृह को बनाना चाहिये, और उसमें एकद्वार रङ्गपीठ में प्रवेश करानेवाला हो। इससे नेपथ्य से रङ्गपीठ में अभिनय करनेवाले जनों का प्रवेश दर्शकों की ओर मुख करके करवाए। दूसरा द्वार रङ्ग के सामने बनवाना चाहिये।

[(१) प्रयोक्तृभिः = नाटक का अभिनय करनेवालों, अथवा नाट्यगृह का निर्माण करानेवालों के द्वारा। (२) भवेत्तस्य = उसका हो। (३) (क) रङ्गपीठप्रमाणतः = रङ्गपीठ की माप के अनुसार। ख. रङ्गपीठं प्रयत्नतः = ? ४ चान्यद् = और दूसरा।]

अष्टहस्तं तु कर्तव्यं रङ्गपीठं प्रमाणतः ।
चतुरस्रं[1] समतलं वेदिकासमलङ्कृतम् ॥१०४॥

चतुरस्र प्रकार के नाट्यगृह का रङ्गपीठ आठ हाथ का चौकोर होना चाहिये (अर्थात् आठ हाथ लम्बा और आठ हाथ चौडा); यह वेदिकाओं से सजा हुआ और समतल होना चाहिये ।

पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी ।
चतुःस्तम्भसमायुक्ता वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥१०५॥

[(१) चतुरस्र नाट्यगृह की मत्तवारणी पहले बतलाये हुए प्रमाण (माप) के अनुसार बनवाई जानी चाहिये । यह वेदी के अगल-बगल में होनी चाहिये और इनमें चार स्तम्भ होने चाहिये ।

वि० पूर्व प्रमाणनिर्दिष्टा का सङ्केत २।७०-७१ की ओर है ।

समुन्नतं समं चैव रङ्ग[1]शीर्षं तु कारयेत् ।
विकृष्टे[2]स्तूतंन्नतं कार्यं चतुरस्रं[3] समं तथा ॥१०६॥

रङ्गशीर्ष को या तो (उपर्युक्त वेदिका) से अधिक ऊँचा या उसके समान ऊँचा बनावाए । विकृष्ट नाट्यगृह में रङ्गशीर्ष वेदिका से ऊँचा हो और चतुरस्र में उसके समान ।

[(१) रङ्गपीठम् = रङ्गपीठ को । (२) विकृष्टेऽप्युन्नतम् = विकृष्ट में भी उन्नत । यह पाठ अधिल अच्छा प्रतीत होता है । विकृष्टेरुन्नतम् = विकृष्ट की ऊँची । पर यह पाठ तो 'विकृष्ट' के स्थान पर 'विकृष्टि' मानकर ही सम्भव हो सकता है । (३) चतुरस्रे = चतुरस्र में ।]

वि० विकृष्टेस्तून्नतम् का सन्धिविच्छेद 'विकृष्टे + अस्तु + उन्नतम्' इस प्रकार करना चाहिए ।

एवमेतेन विधिना चतुरस्रंगृहं भवेत् ।
अतः[1] परं प्रवक्ष्यामि त्र्यस्रगेहस्य लक्षणम् ॥१०७॥

इस प्रकार इस विधि से चतुरस्र नाट्यगृह हो (= बनाया जाय) । इसके पश्चात् मैं त्रिकोण नाट्यगृह का लक्षण बतलाऊँगा ।

[(१) त्र्यस्रस्य मण्डपस्यापि संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् = मैं त्रिकोण मण्डप का भीलक्षण बतलाऊँगा ।] •

त्र्यस्रं त्रिकोणं कर्तव्यं नाट्यवेश्म प्रयोक्तृभिः ।
मध्ये त्रिकोणमेवास्य रङ्गपीठं तु कारयेत् ॥१०८॥

बनवानेवालो के द्वारा त्र्यस्र नाट्यगृह को त्रिकोणाकृति बनाना चाहिए और इसके मध्य में रंगपीठ को (भी) त्रिकोण ही बनाना चाहिए।

वि० इसका तात्पर्य यह है कि समग्र नाट्यगृह के अन्तर्गत एककोण के सहारे एक छोटा समानुपात त्रि कोण रंगपीठ होगा और शेष भूमि-भाग प्रेक्षको के बैठने का स्थान ।

द्वारं तेनैव कोणेन कर्तव्यं तस्य[१] वेश्मनः ।
द्वितीयं चैव कर्तव्यं रङ्गपीठस्य पृष्ठतः ॥१०९॥

उस नाट्यगृह का द्वार उसी कोण (?) से बनाना चाहिए तथा दूसरा द्वार रंगपीठ के पीछे से बनाना चाहिए ।

[(१) तु प्रवेशने = प्र वेश के लिए ।]

वि० इस श्लोक से यह स्पष्ट नहीं होता कि "तेनैव कोणेन" से किस कोण की ओर सङ्केत है । अभिनवगुप्त ने इसकी टीका में लिखा है—"वारुणीगतेन द्वारं जनप्रवेशनं...इत्यादि = अर्थात् प्रेक्षको के प्रवेश का द्वार पश्चिम दिशा में होना चाहिए ।

विधिर्य[२]श्चतुरस्रस्य भित्तिस्तम्भसमाश्रयः ।
स[२] तु सर्वः प्रयोक्तव्यस्त्र्यस्रस्यापि प्रयोक्तृभिः ॥११०॥

भित्तियों (दीवारो) और स्तम्भों के सम्बन्ध में चतुरस्रनाट्यगृह की जो विधि है वह सब बनवानेवालो के द्वारा त्र्यस्र नाट्यगृह के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त होनी चाहिए।

[(१) यह श्लोकार्द्ध कुछ प्रतियों में नहीं मिलता । (२) विधेयश्च पुरस्तत्र = उसमें पहले की जानी चाहिए ।]

चतुरस्र नाट्यगृह की भितियों और स्तम्भों की विधि त्र्यस्र नाट्य-गृह में किस प्रकार प्रयुक्त हो सकेगी इसके विषय में मूल में कुछ नहीं

बतलाया गया है। अतएव इस श्लोक का आशय यही समझा जाना चाहिए कि चतुस्र नाट्यगृह की भित्ति और स्तम्भों की विधि को दृष्टि में रखकर त्र्यस्र की भित्तियो और स्तम्भो की भी रचना की जानी चाहिए।

एवमेतेन विधिना कार्या[1] नाट्यगृहा बुधैः।
पुनरेषां[2] प्रवक्ष्यामि पूजामेवं[3] यथाविधि ॥१११॥

बुद्धिमानों के द्वारा नाट्यगृहों की रचना इस प्रकार इस विधि से की जानी चाहिये। इनकी पूजा जिस प्रकार और जिस प्रकार से होनी चाहिये इनको मैं फिर (आगे तृतीय अध्याय में) कहूँगा।

[(१) कार्यं नाट्यगृहम् = नाट्यगृह बनाना चाहिये। (२) अत ऊर्ध्वं = इसके आगे (तृतीय अध्याय में।) (३) एषां = इन (नाट्यगृहों) की। अथवा नाट्यमण्डप में स्थित देवताओं की।]

वि० आचार्य अभिनवगुप्त ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध की व्याख्या में लिखा है—"एतेन विधिना बहवो नाट्यमण्डपाः न तु पूर्वोक्ताष्टादशकलनयेत्यर्थः" = अर्थात् इस प्रकार से, पहले बतलाए हुए हिसाब से केवल १८ ही नहीं (और भी) बहुत प्रकार के नाट्यमण्डप हो सकते हैं।

इति श्रीभारतीये नाट्यशास्त्रे मण्डपविधानम्
(प्रेक्षागृहलक्षणं) नाम द्वितीयो
अध्याय

इस प्रकार भारतीय नाट्यशास्त्र में मण्डपविधान (—प्रेक्षागृह-लक्षण) नामक दूसरा अध्याय समाप्त ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

सर्वलक्षणसम्पन्ने कृते नाट्यगृहे शुभे ।
गावो वसेयुः सप्ताहं सह जप्यपरैर्द्विजैः ॥१॥

उपर्युक्त सब (शुभ) लक्षणों से सम्पन्न शुभ नाट्यगृह के बन जाने के उपरान्त उसमें मंत्रों के जप में संलग्न ब्राह्मणों के साथ गौवें एक सप्ताह तक निवास करें ।

ततोऽधिवासयेद्वेश्म रङ्गपीठं तथैव च ।
मन्त्रपूतेन तोयेन प्रोक्षिताङ्गो निशागमे ॥२॥
यथास्थानान्तरगतो दीक्षितः प्रयतः शुचिः ।
त्रिरात्रोपोषितो भूत्वा नाट्याचार्योऽहताम्बरः[१] ॥३॥

इसके पश्चात् नाट्याचार्य रात्रि के आने पर अपने शरीर को मंत्रों द्वारा पवित्र किये हुए जल से छिड़क कर, घर से अन्य स्थान पर रह कर दीक्षित, संयतेन्द्रिय और पवित्र होकर, तीन रात्रि का उपवास करके नवीन वस्त्र धारण करके नाट्यगृह और रङ्गपीठ को देवताओं से अधिवासित कराए ।

[(नि०) नायकोऽहतवस्त्रधृक् = नवीन वस्त्रों को धारण किये हुए नायक ।]

नमस्कृत्य महादेवं सर्वलोके[१]श्वरं भवम् ।
पद्मयोनिं[२] सुरगुरुं विष्णुमिन्द्रं गुहं तथा ॥४॥
सरस्वतीं च लक्ष्मीं च सिद्धिं मेधां धृतिं मतिम् ।
सोमं[३] सूर्यं च मरुतो लोकपालांस्तथाश्विनौ ॥५॥
मित्रमग्निं[४] स्वरान्[५]वर्णान्रुद्रान्कालं कलिं तथा ।
मृत्युं च नियतिं चैव कालदण्डं तथैव च ॥६॥
विष्णुप्रहरणं[६] चैव नागराजं च वासुकिम्[७] ।
वज्रं[८] विद्युत्समुद्रांश्च गन्धर्वाप्सरसो मुनीन् ॥७॥

तथा[९] नाट्यकुमारींश्च[१०] महाग्रामण्यमेव च।
यक्षांश्च गुह्यकांश्चैव भूतसंघांस्तथैव ॥८॥
एतांश्चान्यांश्च देवर्षीन्प्रणिपत्य[११] कृताञ्जलिः।
यथा[१२]स्थानान्तरगतान्समावाह्य ततो वदेत् ॥९॥

सब लोकों के ईश्वर भगवान् भव (शिव), पद्मयोनि ब्रह्माजी, बृहस्पति, विष्णु, इन्द्र तथा गुह (स्वामिकार्त्तिक), सरस्वती, लक्ष्मी, सिद्धि, मेधा, धृति, मति, सोम (चन्द्रमा), सूर्य, मरुत्, लोकपाल, अश्विनौ, मित्र, अग्नि, स्वर, वर्ण, रुद्रों, काल, कलि, मृत्यु, नियति कालदण्ड, विष्णु के प्रहरण (चक्र) नागराज वासुकि, वज्र, विजली, समुद्रों, गन्धर्वों, अप्सराओं, मुनियों, नाट्यकुमारियों, महाग्रामणी, यक्षों, गुह्यकों, भूतसंघों, इन तथा अन्य देवर्षियों को (अपने-अपने पृथक् स्थानों पर स्थित) (भली प्रकार आवाहन करके) हाथ जोड़कर प्रणिपातपूर्वक प्रणाम करके तत्पश्चात् यह कहे।

[(१) नि० सर्वलोकोद्भवोद्भुवम् = सब लोकों के कारण के भी करण। २ नि० जगत्पितामहं चैव = और जगत् के पिता मह ब्रह्माजी को। ३ का० सेन्दुं = चन्द्रमा के साथ। ४विष्णु = विष्णुव-५ सुरावर्णान् रुद्रान् सुरा के वर्णों वाले रुद्रों को। सुरान् = देवताओं को। स्वरान् रुद्रान् वर्णान् = स्वरों, रुद्रों और वर्णों को। ६ विष्णुप्रकरणं = विष्णु के प्रकरण को। ७ का० खगेश्वरम् = गरुड को। ८ का० वज्रविद्युत्समुद्रांश्च, वज्रविद्युत्समुद्राश्च। ९ यहाँ ब० पुस्तक में निम्नलिखित श्लोक प्रक्षिप्त कह कर दिया है :—

भूतान् पिशाचान् यक्षांश्च गुह्यकांश्च महोरगान्।
असुरान् नाट्यविघ्नांश्च तथान्यान् देव [१]क रक्षसान् ॥

अर्थात् भूतों, पिशाचों, यक्षों, गुह्यकों, महान् उरगों, असुरों नाट्यविघ्नों तथा अन्यान्य देवताओं तथा राक्षसों को। का० पुस्तक में १ क० के देव के स्थान पर दैत्य पाठ है। १० नाट्यं मातृश्च = नाट्य और माताओं को। ११ का० राजर्षीन् = राजर्षियों को। १२ का० यथास्थान-

स्थितान् = अपने अपने उचित स्थान पर बैठे हुए। पूरी पंक्ति का पाठ का० पुस्तक में इस प्रकार है यथास्थानस्थितान् देवान् निमन्त्र्यैतद्वचोऽवदत् = अपने-अपने स्थान पर स्थित देवताओं को निमंत्रित करके यह बचन कहा।]

भगवद्भिर्निशायां[1] नः कर्तव्यः संपरिग्रहः[2] ।
साहाय्यं चैव दातव्यमस्मिन्नाट्ये सहानुगैः ॥१०॥

"भगवन् आप सब के द्वारा रात्रि में हमको अपने संपरिग्रह (=रक्षा) में रखना चाहिये और इस नाट्य में अपने अनुचरों सहित हमको सहायता भी दी जानी चाहिये।

[१ का० भवद्भिर्नो निशायां तु = आपके द्वारा रात्रि में तो हमारी। २ स परिग्रहः = वह अनुग्रह, या कृपा।]

संपूज्य देवताः[1] सर्वाः कुतपं संप्रयुज्य[2] च ।
जर्जराय प्रयुञ्जीत पूजां नाट्यप्रसिद्धये ॥११॥

सब देवताओं का (उपर्युक्त प्रकार से) पूजन करके और बाजे बजवा कर, नाट्य की सफलता के लिये जर्जर की पूजा करे।

[१ नि० सर्वानेकत्र = सब की एक साथ। २ संप्रपूज्य = पूजकर।]

त्वं महेन्द्रप्रहरणं[1] सर्वदानव[2]सूदनम् ।
निर्मितं सर्वदेवैश्च सर्वविघ्ननिवारणम्[4] ॥१२॥
नृपस्य[5] विजयं देहि रिपूणां च पराजयम् ।
गोब्राह्मणहितं[6] चैव नाट्यस्य विवर्धनम् ॥१३॥

हे जर्जर तू महेन्द्र का सब दानवों को नष्ट करनेवाला हथियार है, तुझे सब देवताओं के द्वारा सब विघ्नों का निवारण करनेवाला बनाया गया है। तू (हमारे) राजा को विजय तथा शत्रुओं को पराजय दे, गो तथा ब्राह्मणों का हित कर और नाटक की वृद्धि कर।

[१ नि० महेन्द्र प्रहरण = हे महेन्द्र के हथियार। २ नि०सर्वदानवसूदन = हे सब दानवों के नष्ट करनेवाले। ४ वि० सर्वविघ्ननिबर्हण = हे सब विघ्नों को नष्ट करनेवाले। ३ नि० निर्मितस्त्वं सर्वदेवैः = तू सब

देवताओं द्वारा बनाया गया है। ५ नि० नृपाय विजयं शंस=राजा के लिए विजय का आशीर्वाद दे। ६ नि० गोब्राह्मणशिवम्=गौ और ब्राह्मणों का कल्याण।]

एवं कृत्वा यथान्यायमुषित्वा[1] नाट्यमण्डपे।
निशायां तु[2] प्रभातायां पूजनं प्रक्रमेद् बुधः[3] ॥१४॥

इस प्रकार नियमानुसार पूजन कार्य करके तथा रात्रि में नाट्यमंडप में ही रहकर रात्रि के पश्चात् प्रभात होने पर बुद्धिमान नाट्याचार्य फिर पूजन कार्य आरंभ करे।

[१ नि० उपास्य=पूजा करके, रहकर। २ का, च=और। ३ नि० इह=यहाँ।]

आर्द्रायां वा मघायां वा याम्ये पूर्वासु[1] च त्रिषु।
अश्लेषामूलयोर्वापि कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥१५॥

आर्द्रा, मघा, याम्या अथवा तीन पूर्वा (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा) नक्षत्रों अथवा आश्लेषा या मूल नक्षत्र के समय रङ्गपूजन किया जाना चाहिए।

[१ का० पूर्वेषु वा त्रिषु=अथवा तीन पूर्वा नक्षत्रों में।]

आचार्येण तु[1] युक्तेन शुचिना दीक्षितेन च।
रङ्गस्योद्यापनं[2] कार्यं देवतानां[3] च पूजनम् ॥१६॥

एकाग्र मनवाले, पवित्र हुए, व्रत में दीक्षित (नाट्या)चार्य के द्वारा रङ्गस्थल को दीपों से प्रकाशित तथा देवताओं का पूजन किया जाना चाहिए।

[१ का० सुयुक्तेन=भली प्रकार एकाग्र चित्त। २ ब० रङ्गस्योद्यो (द्यो) तनम्=रङ्गस्थल को प्रकाश युक्त (रोशन) करना। ३ का० दैवतानां=देवताओं का।]

दिनान्ते दारुणे घोरे मुहूर्त्ते भूतदैवते।
आचम्य तु[1] यथान्यायं देवता वै निवेशयेत् ॥१७॥

दिन के अन्तिम घोर एवं दारुण मुहूर्त्त में जिसके देवता भूत हैं,

आचार्य को नियमानुसार आचमन करके देवताओं को आसीन कराना चाहिए।

[१ का० च=और। २ का० दैवतानि=देवताओं को।]

रक्ताः प्रतिसरास्तत्र[१] रक्तगंधाश्च पूजिताः।
रक्ताः सुमनसश्चैव यच्च रक्तं[२] फलं भवेत् ॥१८॥
यवैः सिद्धार्थकैर्लाजैरक्षतैः[३] शालितण्डुलैः।
नागपुष्पस्य मूलेन[४] वितुषाभिः[५] प्रियङ्गुभिः ॥१९॥
एतैर्द्रव्यैर्युतं कार्यं देवतानां[६] निवेशनम्।
आलिन्खेमण्डलं[७] पूर्वं यथास्थानं यथाविधि ॥२०॥

उस (देव पूजन) में लालरङ्ग के सूत्र कङ्कण, तथा उत्तम (पूजित) प्रकार का लालचन्दन (अथवा रोली), लालरङ्ग के फूल और ऐसा फल होना चाहिए जो लाल हो। जौ, सरसों, खीलों (लैया) धानों के अक्षत (न टूटे हुए चावलों), नागपुष्प की जड़ तथा छिलके से रहित प्रियङ्गुओं—इनने द्रव्यों के सहित देवताओं को आसीन करना चाहिए। (परन्तु) देवताओं को बैठाने से पूर्व उसको यथास्थान विधिपूर्वक मण्डल बना लेना चाहिए।

[१ नि० सूत्र=सूत। २ रक्तफलं=लाल रङ्ग का फल। ३ का० लक्षितैर्लाजतण्डुलैः=लक्षण युक्त धान की खीलें। ४ का० चूर्णेन=चूर्ण से। ५ चै (च?) तुषाभिः। ६ का० दैवतानाम्। ७ मण्डपं चैव=और मण्डप को।]

वि० नागपुष्प का अर्थ चम्पक अथवा पुन्नाग वृक्ष होता है। नागपुष्पस्य मूलेन और नागपुष्पस्य चूर्णेन दोनों ही पाठ सार्थक हैं। प्रियङ्गु से तात्पर्य प्रियङ्गु फल है न कि केशर, अन्यथा वितुषाभिः विशेषण निरर्थक होगा।

समन्ततश्च[१] कर्तव्यं[२] हस्ताः षोडश मण्डलम्[३]।
द्वाराणि चात्र कुर्वीत विधानेन[४] चतुर्दिशम् ॥२१॥

यह मण्डल १६ हाथ लम्बा तथा चौड़ा वर्गाकार होना चाहिए और इसमें विधान के अनुसार चारों ओर द्वार होने चाहिए।

[१ का० तु=तो। २ का० कर्तव्या=करना चाहिए। ३ का० मण्डलैः मण्डलों द्वारा। ४ का० विधिना च=और विधि से।]

वि० यहाँ हस्त से तात्पर्य हस्ततल अथवा हस्तताल है। अँगूठे और बीच की अँगुली को विपरीत दिशाओं में फैलाने पर दोनों सिरों के मध्य जो दूरी होती है उसको ताल कहते हैं।

मध्ये चैवात्र कर्तव्ये द्वे रेखे तिर्यगूर्ध्वगे।
तयोः कक्ष्याविभागेन[1] दैवतानि निवेशयेत् ॥२२॥

और इसी मण्डल के मध्य में दो रेखाएँ (तिर्यग्) पूर्वपश्चिम तथा ऊर्ध्वग (उत्तर दक्षिण) जानेवाली बनाई जानी चाहिए। उन रेखाओं से बनी हुई कक्ष्याओं (चार कोष्ठकों) में देवताओं की स्थापना की जानी चाहिए।

[१ का० कक्ष्यानियोगेन=कोष्ठकों की निम्नलिखित नियुक्ति के अनुसार। उक्तविभागेन=कहे गये विभाजन के अनुसार।]

पद्मोपविष्टं ब्रह्माणं तस्य[1] मध्ये निवेशयेत्।
आदौ निवेश्यो भगवान् सार्द्धं भूतगणैः शिवः[2] ॥२३॥
नारायणो महेन्द्रश्च स्कन्दः[3] सूर्योऽश्विनौ शशी।
सरस्वती च लक्ष्मीश्च श्रद्धा मेधा च पूर्वतः ॥२४॥
पूर्वदक्षिणतो वह्निर्निवेश्यः [4]स्वाहया सह।
विश्वेदेवाश्च[5] गन्धर्वा[6] रुद्राः[7] सर्वगणास्तथा ॥२५॥
दक्षिणेन निवेश्यास्तु[8] यमो मित्रश्च[10] सानुगः।
पितॄन्पिशाचानुरगान् गुह्यकांश्च निवेशयेत्[9] ॥२६॥
नैर्ऋत्यां राक्षसांश्चैव भूतानि च निवेशयेत्।
पश्चिमायां समुद्रांश्च वरुणं[12] यादसां पतिम् ॥२७॥
वायव्यां[13] वै दिशि तथा सप्तवायू[14]न्निवेशयेत्।
[15]निवेशयेच्च तत्रैव गरुडं पक्षिभिः सह ॥२८॥

[१६]उत्तरस्यां दिशि तथा धनदं संनिवेशयेत् ।
नाट्यस्य मातृश्च तथा यक्षानथ [१७]सगुह्यकान् ॥२९॥
[१८]तथैवोत्तरपूर्वायां नन्द्याद्यांश्च गणेश्वरान् ।
ब्रह्मर्षिभूतसङ्घांश्च यथांभागं[२०] निवेशयेत् ॥३०॥

उस मण्डल के मध्य में, कमल पर बैठे हुए ब्रह्मा को स्थापित करे। सब के आदि में भूतगणों के साथ भगवान् को पूर्व दिशा में रखा जाय और तदुपरान्त नारायण, महेन्द्र, स्कन्द, सूर्य, अश्विनीकुमार, चन्द्रमा, सरस्वती, लक्ष्मी, श्रद्धा और मेधा को पूर्व दिशा में स्थापित किया जाय। दक्षिणपूर्व दिशा में स्वाहा के साथ अग्नि, विश्वेदेवा, गन्धर्व, रुद्र और सर्वगण को रखा जाय। दक्षिण दिशा में यम, अपने अनुचरों के सहित मित्र, पितरों, पिशाचों, उरगों और गुह्यकों निवेशित किया जाना चाहिए दक्षिण पश्चिम (नैऋ त्य कोण) में राक्षसों और भूतों को स्थान दे। पश्चिम में समुद्रों और जलजीवों के पति वरुण को स्थापित किया जाय। उत्तर पश्चिम (वायव्य कोण) में सात पवनों को रखे और पक्षियों के साथ गरुड़ को भी वहीं स्थान दे। तथा उत्तर दिशा में धनद (=कुबेर) को भली भाँति स्थान दे और नाव्यमाताओं एवं गुह्यकों के साथ यक्षों को भी उसके साथ स्थापित करे। इसी प्रकार उत्तर पूर्व दिशा में नन्दी इत्यादि गणेश्वरों, ब्रह्मर्षियों तथा भूतों के संघों को सबके लिए उचित स्थान भागों में स्थापित करे।

[१ का० रङ्गमध्ये = रङ्ग के मध्य भाग में। २ का० भवः = शंकर। क-ख नवैः = नवीन (गणो के) साथ। ३ का० स्कन्दार्कौ = स्वामि कार्त्तिक और सूर्य। ४ क (का) चन्द्रमा भानुरेव च = चन्द्रमा और सूर्य ही। ५ नि० विश्वेदेवाः = विश्वेदेवा। ६ नि० सगन्धर्वाः = गन्धर्वों के साथ। ७ का० रुद्राश्च ऋषयस्तथा = रुद्र और ऋषिगण। ८ ख (का) सर्पगणास्तथा = और सर्पों के गण। ९ का० निवेश्यस्तु = स्थापित करने योग्य। १० का० मित्रस्तु = मित्र तो। ११ का० नैऋतांश्चै व सर्वभूतान् = नैऋत जाति के देवताओं तथा सब भूतों को। १२ का० वरुणं च निवेश-

येत्=वरुण को स्थापित करे। १३ क० ख० का० वायव्यायां=वायव्य दिशा में। १४ का० सप्तवायुम्=सप्तवायु को। १५ नि० तत्रैव विनिवेश्यस्तु गरुड़: पक्षिभिः सह=पक्षियों के साथ गरुड़ को भी वहीं स्थान देना योग्य है। १६ का० उत्तरस्यां कुबेरं च सर्वैरनुचरैः सह=और उत्तर दिशा में सब अनुसरों के साथ कुबेर को। १७ क-ख सहानुगान्=अनुचरों के साथ। १८ का० च गुह्यकान्=और गुह्यकों को। यह श्लोक कुछ पुस्तकों में नहीं है। १९ का० नन्दिनं च गणेश्वरान्=नन्दी तथा गणेश्वरों को। का० में 'यथाभागं निवेशयेत्' इतना पद्य भाग नहीं है।]

वि० अर्थ की दृष्टि से तो २३–३० तक के श्लोक इसी अध्याय के ४-९ श्लोकों की पुनरावृत्ति मात्र हैं।

स्तम्भे सनत्कुमारं तु दक्षिणे दक्षमेव च।
ग्रामण्यमुत्तरे[1] स्तम्भे पूजार्थं संनिवेशये[2] ॥३१॥

पूजा के लिए (पूर्व दिशा के स्तम्भ पर) सनत्कुमार को स्थापित करे, दक्षिण स्तम्भ पर दक्ष को और उत्तर स्तम्भ पर ग्रामणी को स्थापित करे।

[१ का० ग्रामण्यम् चोत्तरे=और ग्रामणी को उत्तर स्तम्भ पर। २ क० विनिवेशयेत्=विशेष प्रकार से स्थापित करे।]

अनेनैव विधानेन यथास्थानं यथाविधि।
सुप्रसादानि[1] सर्वाणि दैवतानि निवेशयेत्[2] ॥३२॥

इसी विधान के अनुसार विधिपूर्वक उचित स्थान पर सब देवताओं को सुप्रसन्न करके स्थापित करे।

[१ सप्रसादानि=प्रसाद सहित। २ का० में पूरी पंक्ति इस प्रकार है—वर्णरूपान्वितः सर्वा देवताः संनिवेशयेत्=अपने अपने रङ्गरूप से युक्त देवताओं को स्थापित करे।]

स्थाने स्थाने यथान्यायं विनिवेश्य तु देवताः।
तासां[1] प्रकुर्वीत ततः पूजनं तु यथार्हतः ॥३३॥

जैसी नीति अथवा नियम है अथवा न्याय है उसके अनुसार देवताओं को स्थापित करके उसके उपरान्त उनका यथायोग्य पूजन करे।

[१ का० प्रकुर्वीत ततस्तासां = उसके उपरान्त उनका...करे।

देवताभ्यस्तु[१] दातव्यं सितमाल्यानुलेपनम्[२]।
गन्धर्व[३]वह्निसूर्येभ्यो रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥३४॥

देवताओं को श्वेत मालाएँ और अनुलेपन दिया जाना चाहिये; गन्धर्वों, अग्नि और सूर्य को रक्तवर्ण की मालाएँ और अनुलेपन दी जानी चाहिएं।

[१ का० दैवतेभ्यः = देवताओं के लिए। २ का० सितं = श्वेत। वह्निगन्धर्वसूर्येभ्यः = अग्नि गंधर्व और सूर्य के लिए।]

गन्धान्माल्यांश्च धूपं च यथावदनुपूर्वशः।
दत्त्वा तथा प्रकुर्वीत बलिं[२] पूजां[३] यथाविधि ॥३५॥

सब देवताओं को यथायोग्य क्रम के अनुसार गन्ध, मालाएँ और धूप देकर उनकी विधिपूर्वक बलि (भेंट) और पूजा करे।

[१ ब० गन्धमाल्यांश्च = गन्ध और मालाओं को। का० गन्धं माल्यं च = गन्ध और माला को। २ का० बलिपूजा = भेंट-पूजा। ३ क-ख-पूजनं च यथार्हतः = जो जिस योग्य है उसकी वैसी ही पूजा।]

ब्रह्माणं[१] मधुपर्केण पायसेन सरस्वतीम्।
शिवविष्णुमहेन्द्राद्याः संपूज्या मोदकैरथ ॥३६॥
घृतौदनेन[२] हुतभुक् सोमार्कौ तु गुडौदनैः[३]।
विश्वेदेवाः सगन्धर्वा मुनयो[५] मधुपायसैः ॥३७॥
यममित्रौ च[६] संपूज्यावपूपैर्मोदकैस्तथा[७]।
पितृपिशाचानुरगान् सर्पिः क्षीरेण तर्पयेत् ॥३८॥
[८]पक्वान्नेन[९] तु मांसेन सुरासी[१०]धुफलासवैः।
अर्चयेद् भूतसंघांश्च चणकैः पललाप्लुतैः ॥३९॥
अनेनैव विधानेन संपूज्या मत्तवारणी।
पक्वान्नेन[११] तु मात्स्येन संपूज्या[१२] रक्षसां गणाः॥४०॥

सुरामांसप्रदानेन[१३] दानवान्[१४] प्रतिपूजयेत् ।
शेषान्[१५] देवगणांस्तज्ज्ञः[१६] सापूपोत्कारिकोदनैः ॥४१॥
मत्स्यैश्च पिष्टभक्ष्यैश्च[१७] सागरान्[१८] सरितस्तथा ।
संपूज्य[१९] वरुणं चापि दातव्यं[२०] घृतपायसम् ॥४२॥
नानामूलफलैश्चापि[२१] मुनीन्संप्रतिपूजयेत् ।
वायूंश्चपक्षिणश्चैव[२२] विचित्रैर्भक्ष्य भोजनैः ॥४३॥
मातॄ र्नाट्यस्य[२३] सर्वास्ता धनदं[२४] च सहानुगैः ।
[२५]अपूपैर्लोपिकामिश्रै[२६] भक्ष्यभोज्यैश्च[२७] पूजयेत् ॥४४॥
एवमेषां[२८] बलिः कार्यो नानाभोजनसंश्रयः[२९] ।
पुनर्मन्त्रविधानेन बलिकर्म प्रवक्ष्यते[३०] ॥४५॥

ब्रह्मा को मधुपर्क से, सरस्वती को पायस (खीर) से, शिव, विष्णु तथा महेन्द्र आदि देवताओं को मोदको के द्वारा पूजे। अग्नि को घी और भात से, चन्द्रमा और सूर्य को गुड़ और भात से, विश्वेदेवा तथा गन्धर्वों के सहित मुनियों को मधु और खीर से पूजे। यम और मित्र की पूजा पुओं और लड्डुओं से की जानी चाहिए; पितरों, पिशाचों और उरगों को घी और जल से तृप्त करे। पक्वान्न, मांस, सुरा, शीरे की मदिरा, फलों के आसवों से तथा (पलल=) तिलकुट से लिप्त चनों से भूतसंघों की अर्चना करे। इसी विधि के अनुसार मत्तवारणी का पूजन किया जाना चाहिये। मछली से युक्त पक्वान्न से राक्षसों के गणों की पूजा की जानी चाहिये। सुरा और मांस के प्रदान से दानवों का प्रतिपूजन करे; एवं पूजा की विधि को जाननेवाला शेष देवगणों को, पुओं, लपसी और भात से पूजे। सागर और सरिताओं को मछलियों और पीठी के बने हुए भोजनों के पूजे। वरुण को पूजकर घृत और खीर दी जानी चाहिये। नाना प्रकार के मूल और फलों से मुनियों का सम्प्रतिपूजन करे; पवनों और पक्षियों को विविध प्रकार के भक्ष्यों और भोजनों के द्वारा पूजे। जो नाट्य की माताएँ हैं उन सबको तथा अनुचरों के सहित कुबेर को पुओं और लेही से मिश्रित भक्ष्य

और भोज्य पदार्थों से पूजे। इस प्रकार नाना विधि के भोजनों से युक्त इन देवताओं के लिए बलि दी जानी चाहिए। फिर (आगे के श्लोकों में) मंत्रविधान के सहित इनके प्रति बलिकर्म को कहा जाएगा।

[१ का० द्रुहिणं=ब्रह्मा को। २ घृतोदनेन (क० ख० का०)=घी और भात से। ३ क० ख० का० गुडोदनैः=गुड़ और भात से। ४ विश्वेदेवाश्च=और विश्वेदेवा। ५ रुद्राश्च ऋषयस्तथा=और रुद्रगण तथा ऋषि लोग। ६ का० समभ्यर्च्यौ=भली भाँति अर्चना किये जाने चाहिए। ७ का० मोदकैः सूपमिश्रितैः=दाल अथवा रसे के साथ में मिले हुए लड्डुओं के सहित। ८ यहाँ से लेकर डेढ़ श्लोक कुछ पुस्तकों में नहीं मिलता। ९ का० पक्वामकेन=पके और कच्चे। १० ब० सीधु=सीधु। ११ का० पक्वामकेन मांसेन=पके और कच्चे मांस से। १२ क० ख० संपूज्यो रक्षसां गणः=राक्षसों का समूह पूजा जाना चाहिये। १३ क० ख० सुरया गुडधानेन मांसैश्च विधिना-र्चयेत्= सुरा, गुड़धानी तथा मांसों के द्वारा विधिपूर्वक अर्चना करे। १४ का० विधिना=विधिपूर्वक। १५ क. ख. शेषा देवगणाः सर्वेऽपूपका द्वारिकोत्करैः? १६ का प्राज्ञः=बुद्धिमान। १७ क. ख. मृष्ट=मिले-जुले। १८ क. ख. सागराः=सागर। १९ क. ख. सदृशं वरुणायाथ=तब वरुण के लिए उसके योग्य। का० अभ्यर्च्य वरुण-श्चापि=और वरुण की अभ्यर्चना करके। २० का० दातव्यो घृतपायसः=घी और खीर देनी चाहिए। का० एव=ही, भी। २२ का० विविधैः=अनेकों प्रकार के पदार्थों से। २३ का०नाट्यस्य च तथा मातॄः=तथा नाटकी की माताओं को। २४ क. ख. तथैव च महासुराः=और उसी प्रकार महा असुर भी। २५ आर्चाकालोचितामिश्रैः? २६ लोचिता; लोपिका; लेपिका; लिपिका इत्यादि पाठान्तर उपलब्ध होते हैं=लपसी, लुचई। २७ प्रयत्नतः=प्रयत्न से २८ क. ख. एवमेवंविधं कार्यम्=इसी प्रकार इस विधि से किया जाना चाहिए। २९ क. ख. संश्रयम्=युक्त, आश्रित। ३० क. ख. प्रचक्षते=कहते हैं। च वक्ष्यते=और कहेगा।]

देवदेव महादेव[1] सर्वलोकपितामह ।
मन्त्रपूतमिदं[2] सर्वं प्रतिगृह्णीष्व में बलिम् ॥४६॥

हे देवों के देव महादेव, हे सब लोकों के पितामह, इस मंत्रों से पवित्र मेरी सब बलि को ग्रहण कीजिए ।

[१ का० महाभाग पद्मयोने = हे परमभाग्यशाली कमलयोनि ब्रह्मा जी । २ का० मंत्रपूतमिमंसर्वं बलिं देव गृहाण नः = हे देव मंत्रों से पवित्र मेरी सब भेंट को ग्रहण करो ।]

पुरन्दरामरपते वज्रपाणे शतक्रतो ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव विधि[1]मन्त्रपुरस्कृतः ॥४७॥

हे इन्द्रदेव, पुरन्दर, अमरों (देवताओं) के पति, हाथ में वज्रधारण करनेवाले, हे शतक्रतु (सौ यज्ञ अथवा शक्तिपूर्णपराक्रम करनेवाले) देव विधि तथा मंत्रों के सहित दी हुई इस भेंट को स्वीकार कीजिए ।

[१ बलिमंत्रपुरस्कृत = बलि और मंत्रों से युक्त । इस पाठ को मानने पर 'बलि' शब्द दो बार आ जाता है जो चिन्त्य है ।]

देव[1]सेनापते स्कन्द भगवन् शंकरप्रिय ।
बलिः[2] प्रीतेन मनसा षण्मुख प्रतिगृह्यताम् ॥४८॥

हे देवताओं के सेनापते, भगवन् स्कन्द, शंकर के प्रिय पुत्र, हे षण्मुख, इस बलि को प्रसन्न मन से ग्रहण कीजिए ।

[१ का० देवसेनापतिस्कन्द = हे देवों के सेनापति स्कन्द । २ का० प्रीतेन मनसा देव षण्मुख प्रतिगृह्यताम् = हे छः मुखवाले देव प्रसन्न मन से ग्रहण कीजिए । इस पाठ में 'बलि' शब्द का अध्याहार करना चाहिए ।]

नारायणमितगते पद्मनाभ सुरोत्तम ।
प्रगृह्यताम् बलिर्देव मन्त्रपूतो[1] मयार्पितः ॥४९॥

हे असीम, अबाधगति, हे पद्मनाभ, हे देवों में श्रेष्ठ देव विष्णु मेरे द्वारा अर्पित इन मंत्रों से पवित्र बलि को स्वीकार कीजिए ।

[१ का० मंत्रसंस्कारसंस्कृतः = मंत्रों के संस्कार से शुद्ध की हुई ।]

महादेव[1] महायोगिन्देवदेव सुरोत्तम ।
संप्रगृह्य बलिं देव रक्ष विघ्नान् सदोत्थितान् ॥५०॥

हे महादेव, हे महायोगिन, हे देवों के देव सुरों में श्रेष्ठ देव इस बलि को भली भाँति लेकर सदा उठनेवाले विघ्नों से (हमारी तथा नाट्य की) रक्षा कीजिए ।

[१ ब० देवदेव महायोगिन्=हे देवाधिदेव, हे महायोगिन् ।]

वि० उपर्युक्त श्लोकों का क्रम काशी के संस्करण में निम्न-लिखित है :—

देवदेव महादेव गणेश...॥ ४७/२ ॥...
महादेव महायोगिन्......।......विघ्नान् सदोत्थितान् ॥४८॥
प्रगृह्यतां बलिर्देव......।......पद्मनाभ सुरोत्तम ॥४९॥
प्रगृह्यतां बलिर्देव......।......बज्रपाणे शतक्रतो ॥५०॥
प्रगृह्यतां बलिर्देव......।......भगवन् शङ्करप्रिय ॥५१॥
प्रीतेन मनसा देव षण्मुख प्रतिगृह्यताम् ॥

देवदेवि[1] महाभागे सरस्वति हरिप्रिये ।
प्रगृह्यतांबलिर्मातर्मया भक्त्या समर्पितः ॥५१॥

हे देवताओं की भी पूज्य देवि सरस्वती, हे हरि (ब्रह्मा की) प्रिय पत्नी, हे मातः मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित भेंट को ग्रहण कीजिए ।

[१ का० देवि देवि=हे देवि, हे देवि ।]

लक्ष्मीः सिद्धिर्मतिर्मेधा[1] सर्वलोकनमस्कृताः ।
मन्त्रपूतमिमं देव्यः प्रतिगृह्णन्तु मे बलिम् ॥५२॥

सब लोकों के द्वारा जिन आपको नमस्कार किया गया है, ऐसी हे लक्ष्मी, सिद्धि, मति एवं मेधा देवियों आप मेरी मन्त्रों द्वारा पवित्र की हुई बलि को ग्रहण करें ।

[१ क. ख. देव्यः सिद्धिवृद्धिलक्ष्म्ये (-क्ष्म्यः)=सिद्धि, वृद्धि और लक्ष्मी देवियाँ।]

सर्वभूतानुभावज्ञ लोकजीवन मारुत[१] ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयार्पित[२]: ॥५३॥

हे मारुत ! तुम सब भूतों के अनुभावों (प्रभावों अथवा शक्तियों) को जानने वाले हो और लोक के जीवन हो, आप मेरे द्वारा अर्पित इस मन्त्रपूत बलि को ग्रहण करें ।

[१ क. ख. मारुत (:) = हेमारुत (मारुत) । २ ब० का० मयोद्यतः = मेरे द्वारा प्रस्तुत की हुई ।]

नाना निमित्त[१]संभूताः पौलस्त्याः सर्व एव ते ।
राक्षसेन्द्रा महासत्त्वाः प्रतिगृह्यह्लीत[२] में बलिम् ॥५४॥

हे राक्षसेन्द्रों आप महासत्त्व (परमशक्तिशाली अथवा महात्मा) हो, आप सब पुलस्त्य की सन्तान (पुत्र) हो अनेकों कारणों से उत्पन्न हुए हो, आप मेरी बलि को लें ।

[१ का (क)-नीतिज्ञ = नीति को जाननेवालों से । २ का० प्रति-गृह्णन्त्विमम् = इसको ग्रहण करें ।]

देववक्त्र सुरश्रेष्ट धूमकेतो हुताशन ।
भक्त्या समुद्यतो देव बलिः सम्प्रतिगृह्यताम् ॥५५॥

हे अग्निदेव, आप देवताओं में श्रेष्ठ हैं, धुएँ की आपकी ध्वजा है । हे हुताशन यह बलि भक्तिपूर्वक प्रस्तुत की गई है; देव इसको भली भाँति ग्रहण कीजिए ।

[यह श्लोक क० ख० पुस्तकों में नहीं है ।]

सर्वग्रहाणां प्रवर[१] तेजोराशे दिवाकर ।
भक्त्या मयोद्यतो देव बलिः सम्प्रतिगृह्यताम् ॥५६॥

सब ग्रहों में श्रेष्ठ, तेज की राशि, दिवाकर, हे देव मेरे द्वारा भक्ति सहित प्रस्तुत की गई बलि को भली भाँति ग्रहण कीजिए ।

[१ क० ख० सम्पूज्य = भली भाँति पूजे जाने के योग्य ।]

सर्वग्रहपते सोम द्विजराज जगत्प्रिय ।
प्रगृह्यतां [१]बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः ॥५७॥

हे सब ग्रहों के पति चन्द्रदेव, हे द्विजराज, हे जगत् के प्रिय, हे देव मंत्रों के द्वारा पवित्र की गई मेरे द्वारा प्रस्तुत इस बलि को ग्रहण कीजिए।

[१ ब० एष बलिः (ब०)=यह बलि। का० एष बलिर्मन्त्रपूतपुरस्कृतः=मंत्रों द्वारा पवित्र करके आपको प्रस्तुत की गई यह बलि।]

महागणेश्वराः सर्वे नन्दीश्वरपुरोगमाः।
प्रतिगृह्यतां[१] बलिर्भक्त्या मया सम्प्रति चोदितः ॥५८॥

नन्दीश्वर जिनमें सबसे आगे चलनेवाले हैं, ऐसे सब महागणेश्वरो यह जो भक्ति सहित मेरे द्वारा बलि आपके प्रति भली भाँति प्रेरित की गई है इसको ग्रहण कीजिए।

[१ का० प्रतिगृह्णन्त्विमं भक्त्या बलिं सम्यङ्मयोदितम्=यह जो भक्तिपूर्वक मेरे द्वारा निवेदित बलि है इसको आप ग्रहण करें।]

नमः पितृभ्यः सर्वेभ्यः प्रतिगृह्व[१]न्त्विमं बलिम्।
भूतेभ्यश्च[२] नमो नित्यं येषामेष[३] बलिः प्रियाः ॥५९॥

सब पितरों को नमस्कार है, आप इस बलि को ग्रहण करें। भूतों को नित्य नमस्कार है जिनको यह बलि प्रिय है।

[१ क० ख० प्रतिगृह्यन्तु मे बलिन्=मेरी बलि को स्वीकार करें। २ यह श्लोकार्द्ध क० और ख० पुस्तकों में नहीं है। ३ का० तेषामेष=उनको यह।]

कामपाल नमो नित्यं यस्यायं ते बलिः[१] कृतः।
नारदस्तु[२]म्बुरुश्चैव विश्वावसुपुरोगमाः।
प्रतिगृह्णतु मे सर्वे गन्धर्वा बलिमुद्यतम् ॥६०॥

हे कामपाल (शिव अथवा बलराम) जिन तुम्हारे लिए यह बलि प्रस्तुत की गई है, आपको नित्य नमस्कार है। नारद, तुम्बुरु और विश्वावसु जिनमें सबसे आगे चलनेवाले (=नेता) हैं वे सब गन्धर्व मेरे द्वारा प्रस्तुत बलिको ग्रहण करें।

[१ नि० विधिः=कार्य, अनुष्ठान। २ क० ख० तुम्बरः=तुम्बर। ३ का० उत्तमम्=श्रेष्ठ।]

यमो मित्रश्च च भगवानीश्वरौ लोकपूजितौ ।
इमं मे प्रतिगृह्णीतां बलिं मन्त्रपुरस्कृतम् ॥६१॥

भगवान् यम और भगवान् मित्र जो कि सब लोकों के द्वारा पूजित देवता हैं वे दोनों मन्त्रोंद्वारा प्रस्तुत की हुई इस बलि को ग्रहण करें ।

रसातलगतेभ्यश्च[1] पन्नगेभ्यः नमोनमः ।
दिशन्तु सिद्धिं नाट्यस्य पूजिताः पवनाशनाः[2] ॥६२॥

पृथ्वीतल (के नीचे), रसातल में रहनेवाले पन्नगों बारंबार नमस्कार है; वे पवन को खानेवाले पूजित होने पर नाट्य (=अभिनय) को सिद्धि प्रदान करें ।

[१ का० रसातलचरेभ्यश्च=पृथ्वीतल के नीचे रसातल में विचरण करनेवाले । २ क० ख० का० पापनाशनः=पापों को नष्ट करनेवाले ।]

सर्वाम्भसां पतिर्देवो वरुणो हंसवाहनः ।
पूजितः प्रीतिमानस्तु ससमुद्रनदीनदः ॥६३॥

सब जलों (=जलाशयों) के पति हंस जिनकी सवारी है ऐसे वरुण देव मेरे द्वारा पूजित होकर सब समुद्रों, नदियों और नदों (बड़ी नदियों) के सहित (मुझसे) प्रसन्न होवें ।

[१ क प्रतिमानस्तु (?) ख० प्रतिमानस्व (?)]

वैनतेय महासत्त्व सर्वपक्षिपते विभो[1] ।
प्रगृह्यतां बलिर्देव मन्त्रपूतो मयोद्यतः[2] ॥६४॥

हे परमबलशाली महात्मन् विनता के पुत्र गरुड़, हे विभो सब पक्षियों के पति देव यह मंत्रपूत बलि मेरे द्वारा प्रस्तुत की गई है इसको ग्रहण कीजिए ।

[१ का० प्रभो=हे प्रभो । २ मयोदितः=मेरे द्वारा निवेदित ।]

धनाध्यक्षो यक्षपतिर्लोकपालो धनेश्वरः ।
सगुह्यकः[1] सयक्षश्च प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥६५॥

धनों के अध्यक्ष, यक्षों के स्वामी लोकपाल (उत्तर दिशा के लोक-

पाल) धनेश्वर कुबेर गुह्यकों और यक्षों के साथ मेरी बलि को ग्रहण करें।

[१ का० सगुह्यकैश्च यक्षैश्च = गुह्यको और यक्षो के सहित ।]

नमोऽस्तु नाट्यमातृभ्यो ब्राह्म्यादिभ्यो[1] नमोनमः ।
सुमुखीभिः प्रसन्नाभिर्बलिः संप्रतिगृह्यताम्[2] ॥६६॥

नाट्यमाताओ को नमस्कार हो—वे जो ब्राह्मी आदि नाट्यमाताएँ हैं उनको बारंबार नमस्कार है। उन सुन्दरमुखों वाली प्रसन्न माताओ के द्वारा बलि को भली भाँति ग्रहण किया जाय।

[१ ब्राह्म्यद्याभ्यो = ब्राह्मी जिनमें प्रथम (प्रमुख) हैं। २ क० ख० अद्य प्रगृह्यताम् = आज ग्रहण किया जाय।]

रुद्रप्रहरणं सर्व[1] प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ।
बिष्णुप्रहरणं[2] चैव विष्णुभक्त्या मयोद्यत[3]म् ॥६७॥

रुद्र का हथियार मेरी सब भेंट को ग्रहण करे और विष्णु का हथियार भी विष्णुभक्तिपूर्वक निवेदित मेरी भेंट को ग्रहण करें।

[१ का० चैव = ही। २ विष्णुः प्रहरणं चैव = विष्णु और उनका हथियार भी। ३ मयोदितम् (क. ख.) = मेरे द्वारा निवेदित।]

तथा कृतान्तः कालश्च सर्वप्राणि[1]वधेश्वरौ ।
मृत्युश्च[2] नियतिश्चैव प्रतिगृह्णातु मे बलिम् ॥६८॥

तथा कृतान्त (सब कार्यों का अन्त) और काल जो दोनों सब प्राणियों की मृत्यु के स्वामी हैं, तथा मृत्यु और नियति मेरी बलि को ग्रहण करें।

[१ का० सर्व प्राणिवशेश्वरौ = सर्व प्राणियों पर प्रभुत्व रखनेवाले स्वामी। क. ख. सर्वप्राणधनेश्वरः = सब (जीवों) के प्राणरूपी धन के स्वामी। २ घो० यमश्च = और यम।]

याश्चास्यां मत्तवारण्यां संश्रिता वास्तुदेवताः ।
मन्त्रपूमिमं सम्यक्प्रति गृह्णन्तु मे बलिम् ॥६९॥

और जो वास्तुदेवताएँ इस मत्तवारणी में निवास करती हैं वे इस भली प्रकार मंत्रों से पवित्र की हुई मेरी बलि को ग्रहण करें।

अन्येऽपि[१] ये देवगणाः दिशो दश समाश्रिताः ।
दिव्या[२]न्तरिक्षभौमाश्च तेभ्यश्चायं बलिः कृतः ॥७०॥

और दूसरे भी जो देवताओं के समूह दशों दिशाओं में रहते हैं वे स्वर्लोक (दिव्यलोक) अन्तरिक्ष अथवा भूमि कहीं के भी रहनेवाले क्यों न हों, उनके लिए यह बलि प्रस्तुत की गई है ।

[१ ब० का० अन्ये ये देवगन्धर्वाः = जो दूसरे देव और गन्धर्व हैं । २ का० दिव्यान्तरिक्षाः = वह दिव्य लोक अथवा अंतरिक्ष के हों ।]

कुम्भं सलिलपूर्णं[१] च पर्ण[२]मालापुरस्कृतम् ।
स्थापयेद्रङ्गमध्ये तु सुवर्णं चात्र दापयेत ॥७१॥

पत्तों की माला से सजाया हुआ तथा जल से भरा हुआ एक मिट्टी का घड़ा रङ्ग के मध्य स्थान में स्थापित करे और उसमें स्वर्ण डलवाए।

[२ क० ख० वर्णमाला = अनेकों रंगवाली (अथवा अक्षमाला-वाली) माला । नि० पुष्पमाला = फूलों की माला । १ नि० सलिलस संपूर्णम् = जल से परिपूर्ण ।]

[१]आतोद्यानि तु सर्वाणि कृत्वा वस्त्रोत्तराणि तु ।
गन्धैर्माल्यैश्च धूपैश्च भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पूजयेत् ॥७२॥

सब बाजों को वस्त्रों से युक्त करके उनको सुगंध, मालाओं, धूप और भक्ष्य तथा भोज्य पदार्थों से पूजे ।

[१ यह श्लोक कुछ पुस्तकों में नहीं है ।]

पूजयित्वा तु सर्वाणि दैवतानि यथाक्रमम् ।
[१]जर्जरस्त्वभिसंपूज्यः स्यात्ततो विघ्नजर्जरः ॥७३॥

सब देवताओ को यथाक्रम पूजकर के तत्पश्चात् भली प्रकार जर्जर की पूजा की जानी चाहिए जिससे विघ्न जर्जर (नष्ट, छिन्न भिन्न) हो जाएँ ।

[१ का० जर्जरः प्रतिसंपूज्यः = जर्जर के प्रति सम्यक् प्रकार से पूजा की जानी चाहिए । घो० संपूज्य = पूजा करके ।

श्वेतं शिरसि वस्त्रं स्यान्नीलं रौद्रेऽथ[१] पर्वणि ।
विष्णुपर्वणि पीतं[२] स्याद्रक्तं स्कन्दस्य पर्वणि ॥७४॥
मूलपर्वणि[३] चित्रं तु देयं वस्त्रं हितार्थिना ।
सदृशं च प्रदातव्यं धूप[४]माल्यनुलेपनम् ॥७५॥

हित की कामना रखनेवाले के द्वारा जर्जर के शिर पर श्वेत वस्त्र, रुद्र की पोरी पर नीला वस्त्र, विष्णु की पोरी पर पीला वस्त्र, स्कन्द की पोरी पर लाल वस्त्र, और जड़ की अन्तिम पोरी में अनेकों रङ्गों-वाला वस्त्र बाँधना चाहिए। तथा उसके सदृश् अथवा योग्य ही धूप माला और अनुलेपन देना चाहिए।

[१ ब० का० च=और। २ ब० वै पीतम्=निश्चय ही पीला।। का० स्यात् पीतम्=हो पीला। ३ क०ख० मूषपर्वणि, मुपपर्वणि ?=चूहे की पोरी में ?। ४ माल्य धूपानुलेपनम्।]

आतोद्यानि च सर्वाणि वासोभिरवगुण्ठयेत् ।
गन्धैर्माल्यैश्च[१] धूपैश्च भक्ष्यभोज्यैश्च पूजयेत्[२] ॥७६॥

सब बाजों को वस्त्रों से ढाँक दे तथा गंध, मालाओं, धूपों, तथा भक्ष्य और भोज्य पदार्थों से उनको पूजे।

[१ गंधमाल्यैश्च (का०)=गंध और मालाओं से। २ का० भोज-येत्=भोजन कराए। यह श्लोक इससे पूर्व के चौथे श्लोक की एक प्रकार से पुनरावृत्ति ही है। जर्जर के पूजन के प्रकरण में इसका यहाँ होनाचिन्त्य है। घो० ने इसको नहीं लिया है।

सर्वमेवं[१] विधिं कृत्वा गन्धमाल्यानु[२]लेपनैः ।
विघ्नजर्जरणार्थं तु जर्जरं [३]चाभिमंत्रयेत् ॥७७॥

इस प्रकार गंध, माला और अनुलेपनों के द्वारा सब विधियों को पूरा करने के पश्चात् विघ्नों का विनाश करने के लिए जर्जर को अभि-मंत्रिक करे।

[१ का० सर्वमेव=सब ही। २ का० घो० धूपमाल्यानुलेपनैः=धूप माला और अनुलेपनों से। ३ नि० तु=तो।]

अत्र[1] विघ्नविनाशार्थं पितामहमुखैः सुरैः ।
निर्मितस्त्वं महावीर्यो[2] वज्रसारो[3] महातनुः ॥७८॥

पितामह ब्रह्मा जी आदि देवताओं ने यहाँ (रङ्ग में) विघ्नों का विनाश करने के लिए तुम्हें परम बलवान् (सुदृढ़) वज्रके समान कठोर और विशाल शरीरवाला बनाया है।

[१ का० विघ्नानां शमनार्थं हि देवैर्ब्रह्मपुरोगमैः ।=ब्रह्मा जिनमें अग्रगामी हैं ऐसे देवताओं के द्वारा विघ्नों को शान्त करने के लिए । २ क० ख० महावीर्य=हे महावीर्य । ३ क० ख० वज्रसत्रे=वज्र यज्ञ में ।]

शिरस्ते रक्षतु ब्रह्मा सर्वैर्देवगणैः[1] सह ।
द्वितीयं च[2] हरः पर्व[3] तृतीयं तु[4] जनार्दन ॥७९॥
चतुर्थं च कुमारश्च पञ्चमं पन्न[5]गोत्तमाः ।
नित्यं[6] सर्वेऽपि पान्तु त्वां पुनस्त्वं च शिवोभव ॥८०॥

सब देवताओं के साथ ब्रह्मा तुम्हारे शिर की रक्षा करें, दूसरे पर्व की रक्षा हर (शंकर), तृतीय पोरी की रक्षा जनार्दन, चौथी की कुमार और पाँचवी की श्रेष्ठ नाग करें । सब नित्य तुम्हारी रक्षा करें और तुम पुनः शिव (कल्याणकर) होओ ।

[१ का० सर्व देवगणै=सब देवगणों के सहित । २ ब० तु=तो । ३ ब. पातु=रक्षा करें । ४ ब० का० च=और । ५ का पन्नगोत्तमः= श्रेष्ठ नाग । ६ सर्वेहि पान्तु सुराः=सब देवता तुम्हारी रक्षा करें ।

[1]नक्षत्रेऽभिजिति त्वं च प्रसूतो रिपुसूदनः ।
जयं चाभ्युदयं चैव पार्थिवाय[2] प्रयच्छनः ॥८१॥

हे शत्रुनाशन तू अभिजित् नामक नक्षत्र में उत्पन्न हुआ है । तू हमारे राजा को जय और उन्नति प्रदान कर ।

[१ क० ख० नक्षत्रेऽभिजितं त्वं तु सूर्यतोऽहितसूदनः ? २ नि० पार्थिवस्य समावह=राजा को लाकर दे ।]

जर्जरं पूजयित्वा[1] च बलिं सर्वं निवेद्य च ।
अग्नौ होमं ततः कुर्यान्मन्त्राहुतिपुरस्कृतम्[2] ॥८२॥

जजर का पूजन करके और सब बलि को निवेदन करके, तत्पश्चात् मंत्र और आहुतियों के साथ में अग्नि में हवन करे।

[१ का० पूजयित्वैवं=इस प्रकार पूजन करके। २ क० ख० पुरस्कृतः=सहित।]

हुत्वा स एव दीप्ताभिरुल्काभिः परिमार्जनम्।
[१]नृपतेर्नर्तकीनां च कुर्याद्दीप्त्यभिवर्द्धनम् ॥८३॥

हवन करके वही रङ्गाचार्य प्रदीप्त उल्काओं के द्वारा परिमार्जन करे और राजा तथा नर्तकियों की दीप्ति का अभिवर्द्धन करे।

[१ क० नृपतौ=राजा में]

अभिद्योत्य सहातोद्यैर्नृपतिं नर्तकीस्तथा।
मन्त्रपूतेन तोयेन पुनरभ्युद्दय तान् वदेत् ॥८४॥
महाकुले प्रसूताश्च[२] गुणौघैश्चाप्यलंकृताः।
यद्वो जन्मगुणोपेतं तद्वो[३] भवतु नित्यशः ॥८५॥

बाजों के सहित राजा और नर्तकियों को अभिद्योतित (चमका) करके फिर उनको मन्त्रों से पवित्र जल के छींटे देकर उनसे ऐसा कहे, "आप सब महान्‌कुल में उत्पन्न हुए हैं और गुणों की राशि से सुशोभित हैं, जो कुछ आपके जन्म और गुणों से आपको प्राप्त हुआ वह नित्य ही अपको उपलब्ध हो।

[१ वि० नर्तकीम्=नर्तकी को। २ नि० प्रसूताःस्थ=उत्पन्न हुए हो। प्रसूतास्ताः=वे उत्पन्न हुईं। ३ तद्वै=वह निश्चय ही (ब०)।

[१]एवमुक्त्वा ततो वाक्यं नृपतेर्भूतये बुधः।]
नाट्यप्रयोगसिद्ध्यर्थमाशिषः संप्रयोजयेत् ॥८६॥

राजा की प्रसन्नता (अथवा समृद्धि) के लिए इस प्रकार वचन कह करके नाट्य के प्रयोग (=अभिनय) की सिद्धि के लिए आशीर्वाद कहने चाहिए।

[१ यह श्लोक क० ख० पुस्तकों में नहीं है।

सरस्वती धृतिर्मेधा ह्रीः श्रीर्लक्ष्मीः[1]स्मृतिर्मतिः ।
पान्तु वो मातरः [2]सर्वाः सिद्धिदाश्च भवन्तुवः ॥८७॥

सरस्वती, धृति, मेधा, ह्री, श्री, लक्ष्मी, मति, स्मृति यह सब माताएँ आप सबकी रक्षा करें और आपके लिए सिद्धि प्रदान करनेवाली हों ।

[१ नि० धृतिर्मतिः = धृति और मति । २ नि० सौम्याः = सरल सीधे स्वभाववाली ।]

यही सात-आठ देवियाँ नाट्यमाताएँ कहलाती हैं । पहले सिद्धि की गणना भी इनके साथ की गई थी; यहाँ पर इनको सिद्धि देनेवाली कहा गया है ।

होमं कृत्वा यथान्यायं हविर्मन्त्रपुरस्कृतम् ।
भिन्द्यात्कुम्भं[1] ततश्चैव नाट्याचार्यः प्रयत्नतः ॥८८॥

नियमानुसार हविः और मंत्र के सहित होम करने के पश्चात् फिर नाट्या चार्य प्रयत्नपूर्वक कुम्भ को फोड़ दे ।

[१ क-ख-का मिचात् = फोड़े ।]

अभिन्ने तु भवेत्कुम्भे स्वामिनः शत्रुतोभयम् ।
भवेद्भिन्ने[1] तु कुम्भे तु स्वामिनः शत्रुसंक्षयः ॥८९॥

कुम्भ के न टूटने पर स्वामि (=राजा) को शत्रु से भय होवे तथा कुम्भ के टूट जाने पर स्वामी के शत्रुओं का विनाश हो ।

[१ ब० क० भिन्ने चैव तु विज्ञेयः = घट के टूटने पर ही जानना चाहिए ।

भिन्ने कुम्भे ततश्चैव नाट्याचार्यः प्रयत्नतः[1] ।
प्रगृह्य दीपिकां दीप्तां सर्वं[2] रङ्गं प्रदीपयेत ॥९०॥

घट के फूट जाने के पश्चात् नाट्याचार्य प्रयत्नपूर्वक जलती हुई दीपिका को लेकर सब रङ्गस्थल को प्रकाशित करे ।

[१ का० अपेतभीः = निर्भय होकर । २ नि० सर्वरङ्गम् ।]

क्ष्वेडितैः स्फोटितैश्चैव वल्गितैश्च[1] प्रधावितै ।
रङ्गमध्ये तु तां दीप्तां सशब्दां संप्रयोजयेत् ॥९१॥

बहुत शब्द के साथ, सिंह-नाद करते हुए, ताल ठोकते हुए, कूदते हुए और दौड़ते हुए उस दीप की प्रभा को सारे रङ्गमञ्च पर घुमावे ।

[१ नि० वल्गितैर्विप्रधावतैः = कूदते हुए और बहुत वेग से दौड़ते हुए ।]

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गैः[1]पणवैस्तथा ।
सर्वातोद्यैः प्रणदितैः[2] रङ्गे[3] युद्धानि कारयेत् ॥९२॥

शङ्ख और दुन्दुभि के निर्घोषों के द्वारा, मृदङ्गों और पणवों के द्वारा सब बाजों के नादों से रङ्गभूमि में युद्ध करवाये ।

[१ का० मृदङ्गपणवैः = मृदङ्ग पणवों के द्वारा । २ क० ख० प्रणुदितैः = बजते हुओं के द्वारा । ३ वि० रङ्गयुद्धानि = अभिनयात्मक युद्ध ।]

तत्र छिन्नं[1] च भिन्नं च दारितं च सशोणितम् ।
कृत्तं[2] प्रदीप्तमायत्तं निमित्तं सिद्धिलक्षणम् ॥९३॥

उस युद्ध में कटा, फटा, चीरा और काटा हुआ सरक्त घाव बहुत चमकीला और बड़ा (लम्बा चौड़ा हो) तो यह शकुन अच्छा और सिद्धि का लक्षण माना जाता है ।

[१ का० भिन्नं च छिन्नं च = फटा और कटा । २ ब० क्षतम् = घाव । क्षतदीप्तमात्तम् = घाव चमकीला और बड़े आकारवाला ।]

सम्यगिष्टस्तु रङ्गो वै स्वामिनः शुभमावहेत् ।
पुरस्य[1] बालवृद्धस्य तथा जनपदस्य च ॥९४॥

भली प्रकार से यजन द्वारा पूजित रङ्ग स्वामी (अर्थात्) राजा के लिए शुभदायक होता है और नगर के बालकों और बूढ़ों के लिए और जनपद के बालकों और बूढ़ों के लिए भी शुभदायक होता है ।

[१ ब० पुनस्सबालवृद्धस्य = फिर बालकों और वृद्धों के लिए ।]

दुरिष्टस्तु तथा रङ्गो [1]दैवतैर्दुरधिष्टितः ।
नाट्यविध्वंसनं कुर्यान्नृपस्य च तथाशुभम् ॥९५॥

तथा दुरिष्ट (= बुरी प्रकार से पूजित) होने पर और देवताओं के

द्वारा बुरी प्रकार अधिष्ठित होने पर रङ्ग नाट्य का विध्वंसन करे और राजा के लिए अशुभ हो।

[१ ब० देवतै (?)।]

[1]य एवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं संप्रयोजयेत्।
प्राप्नोत्यपचयं शीघ्रं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥९६॥

जो व्यक्ति इस प्रकार विधि को त्यागकर मनमाने प्रकार से अभिनय करता है वह शीघ्र ही अवनति को प्राप्त होता है और पशुयोनि को जाता है।

[१ का० यस्त्वेवं = जो इस प्रकार से।]

यज्ञेन संमितं[1] ह्येतद्रङ्गदैवतपूजनम्।
अपूजयित्वा रङ्गं तु नैव प्रेक्षां[2] प्रयोजयेत् ॥९७॥

यह जो रङ्ग के देवताओं का पूजन है यह (पुण्य में) (वैदिक) यज्ञ के समान है; रङ्ग पूजन बिना किये तमाशे (नाटक) का अभिनय नहीं करना चाहिए।

[१ क-ख ब० संमत = माना हुआ। २ क-ख० प्रेक्ष्यम् = तमाशे को।]

पूजिताः पूजयन्त्येते मानिता मानयन्ति च।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥९८॥

रङ्गस्थल के देवता पूजे जाने पर अभिनेता आदि को पूजित बना देते हैं, मानित होने पर संमानित करा देते हैं। इसलिए सब प्रकार के प्रयत्न से रङ्ग का पूजन किया जाना चाहिए।

न तथाशु[1] दहत्यग्निः प्रभञ्जनसमीरितः।
यथा ह्यपप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥९९॥

आँधी से भड़कायी गई अग्नि उतनी शीघ्रता से नहीं जलाती, जितनी शीघ्रता से दूषित अनुष्ठान द्वारा किया गया अभिनय रङ्गाचार्य को क्षण मात्र में भस्म कर डालता है।

[१ क० ख० तथासु (शुं ?)।]

शास्त्रज्ञेन[1] विनीतेन शुचिना दीक्षितेन च ।
नाट्याचार्येण शान्तेन कर्तव्यं रङ्गपूजनम् ॥१००॥

शास्त्र को जाननेवाले, विनम्र, पवित्र, (व्रत में) दीक्षित, शान्त स्वभाव वाले नाट्याचार्य के द्वारा रङ्ग का पूजन किया जाना चाहिए ।

[१ क० ख० शास्त्रज्ञे च = और शास्त्रज्ञ में । न तथाशु से लेकर दो श्लोक क० पुस्तक में नहीं हैं ।]

स्थानभ्रष्टं तु यो दद्याद्बलिमुद्विग्न मानसः ।
मन्त्रहीनो यथा होता प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥१०१॥

जो मनुष्य उद्विग्न मनवाला होने के कारण अनुचित स्थान में बलि देता है वह मंत्रहीन होता (= हवन करने वाला) जैसा है वैसा ही प्रायश्चित करने योग्य होता है ।

इत्ययं[1] यो विधिर्दृष्टो रङ्गदैवतपूजने ।
नवे नाट्यगृहे कार्यः[2] प्रेक्षायां च[3] प्रयोक्तृभिः ॥१०२॥

इस प्रकार यह जो रङ्ग के देवताओं के पूजन की विधि वर्णित (दृष्ट) हुई है इसको प्रयोक्ताओं के द्वारा नये नाट्यग्रह में प्रेक्षा (तमाशा) दिखलाते समय करना चाहिए ।

[१ एवमेव विधिः (का) = इसी प्रकार से विधि । का० कार्यम् = की जानी चाहिए । ३ तु = तो ।]

इति श्री[1]भारतीये नाट्यशास्त्रे रङ्ग[1]दैवतपूजाविधानं नाम तृतीयोऽध्यायः ।

इस प्रकार श्री भारतीय नाट्यशास्त्र में रङ्गपूजा नामवाला तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

[१ का० भारतीय नाट्यशास्त्रे । २ रङ्गदैवतपूजनम् । रङ्गदेवता पूजन ।]

राम स्वरूप स्म-२०.
बरेली
बरेली

हमारा आगामि प्रकाशन

धनञ्जय भट्ट कृत

दशरूपक

हिन्दी टीका और व्याख्या सहित

सम्पादक—डा० गोविन्द त्रिगुणायत

मूल्य लगभग ५)